साधना सूत्र
—ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा

साधना सूत्र

ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा

दिव्यालोक प्रकाशन

साधना सूत्र

ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा

दिव्यालोक प्रकाशन
ब्रह्मर्षि आश्रम, विराट नगर, पिंजौर
हरियाणा

आशीर्वचन

प्रिय भक्ति प्रभा!

सस्नेह प्यारयुक्त शुभाशीष!

करुणानिधान भगवान् की असीम कृपा का ही परिणाम है कि **'साधना सूत्र'** पुस्तक को प्रकाशित करने का तुम्हारा संकल्प पूरा हुआ। व्यक्ति व समाज के जीवन को समुचित दिशा प्रदान करने का कार्य सदैव सद्साहित्य द्वारा ही सम्पन्न होता रहा है और भविष्य में भी होता रहेगा क्योंकि मानव के पास इससे उत्तम और कोई माध्यम नहीं जिसके द्वारा वह प्रज्ञावान मनीषियों के चिन्तनजन्य अनुभूत ज्ञान को ग्रहण कर सके। यह सर्वज्ञात सत्य है कि व्यक्ति का कर्त्तव्य उसके विचारों का ही मूर्त रूप होता है। वर्तमान में मानव समाज में व्याप्त उदर तथा परिवार परायणता एवं स्वार्थमयी वृत्ति का मूल कारण उसका दूषित विचार ही है, जो कि दूषित पठन–सामग्री एवं कुशिक्षा का ही प्रतिफल है। साहित्य शब्द का अर्थ है–**स हितस्य भावो** अर्थात् सभी के हित की भावना से जो विचार लेखबद्ध व संकलित किये जाते हैं, उसे ही 'साहित्य' शब्द से गौरवान्वित किया जाना चाहिये। जिन विचारों में सर्वहित की भावना निहित न हो, जो मानव में देवत्व को संस्थापित करने में सक्षम न हो, जो सीमित को असीम से युक्त होने में सहायक न हो, उस लिखित सामग्री को साहित्य ऐसे पवित्र शब्द से सम्बोधित करना मैं उस शब्द का अपमान समझता हूँ। किन्तु जहां तक मुझे ज्ञान है हमारे इस ब्रह्मर्षि मिशन के द्वारा प्रकाशित अब तक की सभी सामग्री साहित्य शब्द की सार्थकता को ही सिद्ध किया है। अतः सन्तोष है कि सहस्त्रों नर–नारी इसकी सामग्री को आत्मसात कर केवल स्वयं के जीवन को सुपथ पर अग्रसर करने के लिए ही प्रयत्नशील नहीं हुये हैं अपितु वे इसके द्वारा दूसरे लोगों को भी सत्पथ पर चलने को प्रेरित किये हैं। यह **'साधना सूत्र'** पाठकों के लिए जीवन को नई दिशा प्रदान कर उन्हें दिव्य साधन पथ पर चलने की प्रेरणा दे और सर्वेश्वर की सहज कृपा उन सभी साधकों के जीवन का परम सम्बल बने, यही मेरी आन्तरिक शुभकामना! इस पुस्तक का आर्थिक वहन मेरे अतीव प्रिय शिष्य डॉ नरेश वारिया झा, एडमण्टन, कैनेडा निवासी ने किया है, उसे मेरा बहुत–बहुत आशीर्वाद, प्रभु उसे सत्पथ पर चलने की अधिक सामर्थ्य प्रदान करें।

अनन्त मंगल कामनाओं सहित तुम्हारा हितेच्छु –

विश्वात्मा बावरा

दो शब्द

'साधना सूत्र' नामक लघु ग्रन्थ १९९३ में हमारी प्रिय भक्ति प्रभा के द्वारा पू० श्री कई लेखों को संकलित कर प्रकाशित करवाया गया। जिज्ञासु साधकों को इससे साधना में विशेष सहायता भी प्राप्त हुई। अब यह ग्रन्थ हमारे कार्यालय में खत्म हो चुका था, पाठकों की निरन्तर मांग के कारण इसे पुनः प्रकाशित किया जा रहा है। जिज्ञासु साधक पूज्य गुरुदेव की गम्भीर साधनाओं से परिचित हैं। उनमें एक नहीं अनेक योगों को समन्वय है। जहां एक तरफ भक्ति का अथाह समुद्र उनमें लहराता है, जिनके रोम-२ से राम-नाम की ध्वनि से चेतन प्राणी ही नहीं जड़ भी अभिभूत है, वहां दूसरी तरफ ज्ञान-विज्ञान की उच्चतम उपलब्धियां भी आप संजोये हुए हैं। कर्मयोग का अनूठा संगम भी अनुकरणीय एवं प्रेरणाप्रद है।

इस ग्रन्थ में पूज्यश्री ने अपने अनुभूत ज्ञान-विज्ञान को साधकों के चित्त की अवस्थानुसार अनेक प्रकार की साधना पद्धतियों के माध्यम से समझाने का प्रयास किया है। उनके अन्तस् में न जाने कितना विशाल एवं आलौकिक ज्ञान - विज्ञान निहित है जिनसे युगों तक मानव समाज प्रेरणा प्राप्त करता रहेगा। साधकों से मेरा निवेदन है कि अपनी संकुचित मान्यताओं से परे हट कर इस ग्रन्थ को पढ़ेंगे तो इसमें निहित प्रकाश से प्रकाशित होंगे। इसी अभिलाषा से यह लघु कृति समर्पित है जिज्ञासु साधकों को साध्य प्राप्ति की मंगल कामना के साथ -

ब्रह्मऋता परिव्राजिका

दिनांक : २५-४-२००१

कथनीय

आराध्य गुरुदेव विरचित यह लघु कलेवरीय ग्रन्थरत्न साधनासूत्र गागर में सागर है। साधक–साधन–साधना–साध्य के प्रत्येक अंग प्रत्यंग को यथार्थतः इसने स्वयं में संजोया है। ज्ञान–भक्ति–योग अथवा कर्मयोग, किसी भी प्रकार के मार्ग के पथिक के लिए यह एक ऐसा प्रामाणिक ग्रन्थ है, जिसका अवलम्बन ले निर्भयता से पथगमन कर साध्य तत्त्व को प्राप्त किया जा सकता है। मेरा ऐसा विश्वास है कि किसी भी मार्ग के पथिक साधक के लिए केवल मात्र इसी एक सद्गन्थ का आश्रय पर्याप्त है। यह एक ऐसा दिव्य सूत्र है जिसमें साधना–सामग्री की समस्त निधियां सूत्रबद्ध की गई हैं एक ऐसे आप्तकाम, तत्त्वेत्ता ऋषिवर के द्वारा, जो स्वयं अष्टांगयोग, हठयोग, राजयोग, भक्तियोग, तन्त्रयोग, मन्त्रयोग, लययोग आदि सभी प्रकार की साधनाओं के सिद्धहस्त पारंगत अनुभवी महायोगी हैं। इन ऋषिवर, मेरे परमाराध्य गुरुदेव ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा जी महाराज ने जनसामान्य की दृष्टि–सृष्टि से अत्यन्त दूर हिमालय के गहन, गुप्त, अगम्य स्थानों व गुफाओं में निवास कर वहां विचरने वाले सिद्ध महापुरुषों, सूक्ष्म दिव्यात्माओं की विशेष कृपा प्राप्त कर सभी प्रकार की साधनाएं कर उनमें सिद्धियां प्राप्त कीं। समस्त साधनाओं में सिद्धियां प्राप्त कर परम तत्त्व परब्रह्म को साक्षात् करने के पश्चात आप इन सिद्धियों को प्रेय मार्ग की ही सामग्री बताते हैं, और इन्हें परमार्थ पथ के पथिक के लिए महत्वहीन मानते हुये श्रेयमार्गी के लिए क्षुद्र, संकीर्ण साम्प्रदायिक तत्त्वों का निराकरण कर विवेकसम्मत गीतोक्त बुद्धियोग का ही अवलम्बन लेने की शिक्षा–दीक्षा एवं प्ररेणा देते हैं। अपने व्यक्तित्व में ज्ञान–भक्ति–कर्मयोग का अद्भुत समन्वय लिए हुए मेरे गुरुदेव केवल भक्तशिरोमणि, परमसिद्ध योगीराज, महान कर्मयोगी तथा तत्त्ववेता ब्रह्मर्षि ही नहीं

हैं अपितु आप समस्त आर्ष ग्रन्थों के ज्ञान–विज्ञान–प्रज्ञान के महान् मर्मज्ञ भी हैं; अत: जिन अनुभूति–युक्ति–श्रुति–स्मृति के समन्वय के आधार पर जो विविधविध साधना–सामग्री इस साधना सूत्र में आपने प्रदान की है, वह विलक्षण है।

दिव्यालोक मासिक पत्रिका का जब 1992 का विशेषांक साधना अंक प्रकाशित हुआ तो उसमें गुरुदेव उल्लिखित साधना–सामग्री को पढ़ कर जिज्ञासु–साधक तथा विद्वत–समाज इतना अभिभूत हुआ कि उस समस्त सामग्री को पुस्तक रूप देने का आग्रह बारम्बार समक्ष आने लगा। स्वीकृति के पश्चात गुरुदेव ने पत्रिका निहित सामग्री के अतिरिक्त कुछेक लेख अपनी विदेश यात्रा में वहां से लिख कर भेजे। उन्हें भी इस साधना सूत्र में समाहित कर पूर्णता प्रदान की गई। न जाने उनके अन्तस् के अलौकिक सागर में कितनी–कितनी निधियां और भरी पड़ी हैं परन्तु इस समय कृपा करके उन्होंने जितनी भी प्रदान की हैं, उन्हें सूत्र में पिरो कर, गूंथ कर हमने संजोने का सौभाग्य प्राप्त कर लिया है इस 'साधना सूत्र' के रूप में—और अब समर्पित है सभी जिज्ञासु साधकों को साध्य प्राप्ति की अनन्त–अनन्त शुभकामनाओं के साथ –

भक्ति प्रभा

अनुक्रमणिका

साधक, साधन–साध्य क्या?

ओंकार बिन्दु संयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव ओंकाराय नमो नमः।।

साधना के सम्बन्ध में विचार करते समय दो तत्त्वों का यथार्थ बोध होना परमावश्यक है। प्रथम साधक तत्त्व, द्वितीय साध्य तत्त्व का, जिसकी प्राप्ति के लिए साधक साधना का आश्रय ग्रहण करता है। इसके साथ ही साधक द्वारा साधना में प्रयुक्त होने वाली साधन सामग्री की भी समुचित जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है। इसके बिना साधक अपने साध्य को प्राप्त करने के लिये साधना में प्रवृत्त ही नहीं हो सकता। इसे क्रमशः साधक, साधन, साधना और साध्य, इन चार भागों में विभाजित करके प्रत्येक के यथार्थ स्वरूप को जान लेने पर ही साधक साधन–सामग्री के समुचित प्रयोग द्वारा साधना करता हुआ साध्य को प्राप्त कर स्वयं को कृतकृत्य कर लेता है।

साधक–साधक कौन है ? इसे साधना का आश्रय क्यों लेना चाहिये ? इसके लिये साध्य क्या है ? इस प्रकार के कई प्रश्न विचारक के समक्ष अपना उत्तर पाने के लिये आ उपस्थित हो जाते हैं। मेरे विचार से आदि काल से लेकर अब तक का सम्पूर्ण संकलित श्रेष्ठ साहित्य इन्हीं की विवेचना में संलग्न पाया जाता है। सरल भाषा में इसे स्पष्ट करते हुए यह कहा जा सकता है कि जीव मात्र ही साधक है क्योंकि उसे अपने में सदैव अभाव की अनुभूति हुआ करती है। उसके पास जो कुछ भी सामग्री उपलब्ध है उसे साधन की संज्ञा दी जा सकती है। अभाव की पूर्ति ही उस जीव साधक के लिये साध्य तत्त्व है। प्राप्त साधन सामग्री का साध्य की प्राप्ति के लिये विवेकयुक्त प्रयोग ही साधना कही जाती है। इस विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि साधक, साधन, साधना और साध्य का एक दूसरे से शाश्वत और सहज सम्बन्ध है। यदि यह कहा जाये कि आदि–अन्त रहित यह सृष्टि–प्रवाह उपरोक्त चारों की ही नित्य गाथा है तो इसमें कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी।

जीव में स्वभावतः अभाव की अनुभूति क्यों ? यह एक मुख्य प्रश्न है।

इसका यथार्थ उत्तर पाने के लिये जीव की स्वाभाविक स्थिति, उसका स्वरूप और उसके कारण की खोज करनी होगी तभी इस रहस्य का उद्घाटन हो सकेगा अन्यथा नहीं। कई आचार्यो ने जीव की नित्य और स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की है और साथ ही उसे सत्–चित् स्वरूप भी माना है। कठोपनिषद् में जहाँ–'अणुरेष धर्मः' कह कर जीवात्मा का उल्लेख है, वे आचार्य उसी को जीव का नित्य स्वरूप कहते हैं। कोई आचार्य जीव को ईश्वर का अंश मानते हैं और उसे अंशी के समान ही सत्–चित्–आनन्द स्वरूप स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार की और भी कई मान्यतायें जीव के सम्बन्ध में प्रचलित हैं। मेरे विचार में जीव का स्वरूप यदि स्वभावतः अणु धर्म वाला और नित्य है तो उसमें अभाव की अनुभूति नहीं होनी चाहिये और न तो उसे विभुता की चाह ही होनी चाहिये क्योंकि अपने सहज धर्म के विपरीत कहीं किसी में प्रवृत्ति नहीं देखी जाती, यह न तो विवेकसम्मत है और न युक्तिसंगत ही। जीव का जीवत्व यदि नित्य है और हर्ष–विषाद, ज्ञान–विज्ञान, अहमिति–अभिमान उसके सहज धर्म हैं तो इनसे वह कभी भी मुक्त नहीं हो सकता और न तो इनसे सर्वथा मुक्त होने की लालसा ही उत्पन्न हो सकती है किन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं देखा जाता। प्रत्येक जीव अपने वर्तमान से असन्तुष्ट एवं दुःखी है और उससे मुक्त होने की लालसा लिये हुए विविध प्रकार के प्रयत्नों में निरत है। दुःख की अत्यन्त निवृत्ति की लालसा ही जीव के समस्त क्रियाकलाप का प्रयोजन है। अतः इससे यह सिद्ध होता है कि जीव का जीवत्व, तज्जन्य हर्ष–विषाद, ज्ञान–विज्ञान आदि विकार, ये दोनों ही अनित्य हैं वा आगन्तुक हैं। इसीलिये इनसे विमुक्त होने के लिये वह भागीरथ प्रयत्न करता है। जब तक वह जीवत्व तथा उससे उत्पन्न हुए विकारों से विमुक्त नहीं हो जाता तब तक न तो उसे शान्ति मिल सकती है और न शाश्वत सुख ही।

जिन आचार्यो ने जीव को ईश्वर का अंश स्वीकार किया है और ईश्वर से भिन्न उसकी स्वतन्त्र सत्ता भी मानी है वहाँ एक बहुत बड़ी भूल हो गई है। जीव चिन्मात्र है, निरवयव है। जो चिन्मात्र और निरवयव है उसका कभी भी, किसी भी अवस्था में विभाजन नहीं हो सकता और न तो चिन्मात्र सत्ता अनेक हो सकती है। भगवद्गीता में जहाँ भगवान् ने कहा है –

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

(गीता १५/७)

वहाँ पर अंश का अभिप्राय खण्ड वा टुकडा नहीं और न विभाजित भाग ही समझना चाहिये। क्योंकि पूर्ण का कभी विभाजन नहीं हो सकता, यह एक सर्वमान्य सत्य है; अतः अंश का अर्थ वहां पर केवल अभिव्यक्ति मात्र है। यह सनातन जीवभूत समुदाय मेरी ही अंशाभिव्यक्ति है, भगवान् के कथन का इतना ही अभिप्राय है। इसी सत्य को उद्घाटित करते हुए भगवान् ने गीता के तेरहवें अध्याय में कहा है–

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।

(गीता १३/२)

अर्थात् "सभी शरीरों में शरीरी रूप से भी तू मुझे ही जान।" उपनिषदें इसी सत्य की घोषणा करते हुए अनेक उदाहरणों के द्वारा जिज्ञासु को समझा रही हैं। कठोपनिषद् में वर्णित आतप और छाया का उदाहरण, मुण्डक में अग्नि और विस्फुलिंग का उदाहरण इसी तथ्य को उद्घाटित करता है। कठोपनिषद् का यह कथन कि – **अग्निः यथैको भुवनम्**, जैसे एक ही अग्नि अनन्त भुवनों में व्याप्त होकर अनन्त रूपों में एक साथ ही अभिव्यक्त होती है और अनन्त रूपों में अभिव्यक्त होने पर भी उसकी व्यापकता में कोई व्यवधान नहीं, इसी प्रकार से दूसरे मन्त्र में वायु, तीसरे मन्त्र में सूर्य का उदाहरण देते हुए भी इसी सत्य को समझाया गया है। गीता के दसवें अध्याय में भगवान् ने स्वयं घोषित किया है –

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।

(गीता १०/२०)

"सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तःकरण में उनकी आत्मा के रूप में मैं ही स्थित हूँ।" इसी प्रकार से सातवें अध्याय में प्रभु ने कहा है –

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।

(गीता ७/१०)

" हे पार्थ ! सम्पूर्ण प्राणियों का सनातन बीज तू मुझे ही जान।" चौदहवें अध्याय में जीवों की उत्पत्ति का बड़ा ही सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है। प्रभु कहते हैं कि "महद्ब्रह्मरूपा जो मेरी प्रकृति है उसमें मैं अपना तेजांश प्रदान करता हूँ जिससे यह गर्भित होकर अनेक जीवों को जन्म देती है। जीवों की जो आकृति है उसमें मेरी प्रकृति कारण है और उनमें जो बोधात्मक चेतना है वह मेरे चिदांश का ही प्रकाश है। इससे मेरी प्रकृति समस्त जीवों की माँ है और जीवन रूप बीज का

कारण होने से मैं समस्त जीवों का पिता हूँ।"

उपनिषद् तथा गीता के चिन्तन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जीव का जीवत्व नित्य एवं शाश्वत नहीं और न ही उसकी भिन्न तथा स्वतन्त्र सत्ता है। जीव अनन्त चैतन्यघन ब्रह्म की अंशाभिव्यक्ति है। अतः सदैव अपने अंशी के गुण, धर्म, स्वभाव को स्वयं में प्रतिष्ठित करने की लालसा लिये हुए यत्नशील रहता है। अंशी अर्थात् कारण के विपरीत स्वयं में गुण, धर्म, स्वभाव की प्रतीति ही उसकी अभावानुभूति में हेतु है। जब तक वह स्वयं में अपने अंशी सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा के गुण, धर्म, स्वभाव को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक उसी अभावानुभूति तथा तज्जन्य आकुलता का अवसान नहीं हो सकता।

साधन— जीव के जीवत्व का उदय बहुत ही सूक्ष्म रूप में होता है। वर्तमान के वैज्ञानिक एक कोषीय प्राणी अमीबा के रूप में स्वीकार करते हैं जो विकसित होता हुआ सृष्टि के श्रेष्ठतम प्राणी मनुष्य के स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। मनुष्य से इत्र योनियों में उसका विकास ईश्वरीय विधान के अनुसार प्रकृति के अधीन हुआ करता है किन्तु मनुष्य शरीर प्राप्त कर लेने पर वह सभी साधन सामग्रियों से युक्त हो जाता है। गोस्वामी जी के शब्दों में यह मानव शरीर साधन–धाम तथा मोक्ष का द्वार है। बुद्धि से लेकर स्थूल शरीर तक प्रकृति प्रदत्त ये सभी कुछ जीव के लिए साधन की सामग्री हैं। इस सामग्री के अभाव में यह साधक जीव कभी भी न तो कोई साधना ही कर सकता है और न साध्य की प्राप्ति ही। श्रीमद्भागवत में मानव शरीर को संसार–सागर से पार जाने के लिए दृढ़ नौका बताया गया है। बिना कर्णधार के नाव किसी सरिता वा सागर से पार ले जाने में स्वयं में सक्षम नहीं होती इसलिए भगवान् व्यासदेव ने **गुरु कर्णधारम्** अर्थात् सद्गुरु ही इस मानव शरीर रूपी नाव का कर्णधार है, ऐसा उपदेश दिया है। यह साधक जीव शरीर, इन्द्रियाँ, मन, अहं और बुद्धि आदि साधनों का तब तक साध्य की प्राप्ति के लिए समुचित उपयोग नहीं कर पाता जब तक उसे कोई सद्गुरु की प्राप्ति न हो जाये। अल्पज्ञ जीव अपने अल्पज्ञान के प्रकाश में जो कुछ भी प्रयत्न करता है उसका प्रयोजन यद्यपि स्वयं में अभाव की अनुभूति का निराकरण करना ही होता है किन्तु दिशा विपरीत होने से प्रयत्न सार्थक नहीं हो पाता। सद्गुरु के निर्देशानुसार जब वह प्राप्त साधना सामग्रियों का सही दिशा में समुचित रूप से प्रयोग करने लगता है तो एक दिन वह साध्य को प्राप्त कर स्वयं

के प्रयत्न को सार्थक बना लेता है, इसमें सन्देह नहीं।

साधना–साध्य की प्राप्ति के लिए साधक द्वारा स्वयं की साधन सामग्री का समुचित प्रयोग ही साधना कही जाती है। साधना का मुख्य रूप है शरीर, इन्द्रियाँ, मन, अहं और बुद्धि, इन सभी के सर्वविध क्रियाकलापों को साध्य के साथ सम्बन्धित कर देना। साधना की विविध प्रक्रियायें हैं, जिनमें अभ्यासयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग, कर्मयोग आदि प्रक्रियाओं का वर्णन भगवान् ने स्वयं श्रीमद्भगवद्गीता में किया है। समस्त साधनाओं को तीन भागों में ही विभाजित किया जा सकता है क्योंकि मनुष्य के पास जो साधन सामग्री है वह तीन रूपों में ही उपलब्ध है, जिसे क्रमशः बुद्धि, हृदय व इन्द्रियों से युक्त स्थूल शरीर के नाम से जाना जाता है; इनके द्वारा तीन प्रकार की प्रक्रियाएँ ही सम्पन्न होती हैं जिन्हें ज्ञान, भाव और कर्म के नाम से जाना जाता है। मेरे विचार से सम्पूर्ण कर्म या तो भावप्रधान होते हैं वा ज्ञानप्रधान। भावप्रधान कर्म भगवान् से सम्बन्धित होने से भक्तियोग के नाम से और ज्ञानप्रधान कर्म कर्त्तापन के अहं भाव से रहित होने से कर्मयोग के नाम से गीता में वर्णित हैं। जहाँ कर्म का सर्वथा अभाव है, केवल ज्ञान के प्रकाश में शरीरगत चेतन की उसके कारणस्वरूप परम चैतन्यघन परमात्मा के साथ अभिन्नता की अखंड अनुभूति बनी रहती है तथा उसका अभ्यास किया जाता है, उसे ज्ञानयोग के नाम से भगवान् ने वर्णन किया है। इस ज्ञानयोग की पूर्वावस्था ही अभ्यासयोग के नाम से वर्णित है और उस अभ्यास की दृढ़ता वा स्थिरता को ध्यानयोग कहा जाता है। गीता के छठे अध्याय में उसी को आत्मसंयम योग नाम से भगवान् ने विस्तार के साथ समझाया है। इन सम्पूर्ण साधनों को दो प्रकार की निष्ठाओं में ही विभाजित किया गया है, जिसे सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठा बताया है। एक में बोध की प्रधानता है और दूसरे में भावयुक्त कर्म की। सरल शब्दों में कहा जाय तो साध्य और साधक के यथार्थ स्वरूप का अनुशीलन और इनके कार्य–कारण सम्बन्ध का यथार्थ बोध सांख्यनिष्ठा के नाम से तथा उस बोध के प्रकाश में भावात्मक जगत् में शरीर, मन और वाणी से होने वाले सम्पूर्ण क्रियाकलाप को उस सर्वाधार, सबके कारण स्वरूप सर्वेश्वर के साथ सम्बन्धित कर देने को योगनिष्ठा के नाम से वर्णन किया गया है।

साध्य– समस्त साधनों का परम साध्य साधक–जीव का मूल आधार सर्वेश्वर शिव है। शिव के चिदांश से आविर्भूत हुआ यह जीव सतत अपने कारण

के गुण, धर्म, स्वभाव से युक्त होता है किन्तु चित्त के साथ तादात्म्य स्वीकार कर लेने से वह चित्त के गुण, धर्म, स्वभाव को भी स्वयं में आरोपित करके दुःख–सुख के प्रवाह में भटकने लग़ता है। साधना द्वारा चित्त के स्थिर हो जाने पर जीव को अपनी इस भूल का बोध होता है और वह चित्त से परे परम प्रकाश सच्चिदानंदघन परमेश्वर, जो उसकी चेतना का मूल स्रोत है, उससे स्वयं की अभिन्नता की अनुभूति कर सदा के लिए कृतकृत्य हो जाता है। अतः उसका कारण वह सच्चिदानंदघन परमात्मा ही इस साधक जीव का एकमात्र परम साध्य है। श्रुति कहती है जैसे नदियाँ अपने सीमित रूप और नाम का त्याग कर समुद्र में प्रविष्ट हो प्रशान्त हो जाती हैं उसी प्रकार से यह चिदांश जीव अपने नाम–रूप का त्याग कर कारण स्वरूप सच्चिदानंद सिंधु में स्वयं को समर्पित कर परम शान्ति का भाजन बन जाता है। गोस्वामी जी के शब्दों में –

सरिता जल जलनिधि महुँ जाई।
होई अचल जिमि जिव हरि पाई।।

शास्त्र और संतों की अनुभूति इसी परम सत्य का उद्घाटन करती है। इस प्रकार संक्षेप में साधक जीव, साधन सामग्री–शरीर, इन्द्रियाँ, मन, अहं और बुद्धि, जिन्हें उपनिषदों में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमयकोष के रूप में वर्णित किया गया है, सांख्य शास्त्र में इनका स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर के रूप में वर्णन किया गया है, इन सभी साधनों का समुचित रूप से साध्य की प्राप्ति के लिए प्रयोग ही साधना है और इन सम्पूर्ण साधक और साधनों का जो परम आश्रय है, वही परमेश्वर साधक जीव का परम साध्य है। जिज्ञासु साधक के लिए संक्षेप रूप में इस लघु लेख में साधक, साधन और साध्य का स्वरूप समझा दिया गया है। विश्वास है सुधी साधकजन इससे लाभान्वित होंगे।

वैदिक धर्म और उसका साध्य

विश्व के प्राचीनतम मानवीय चिन्तन का अनुभूत ज्ञानकोष वैदिक साहित्य के रूप में जाना जाता है। यह वैदिक ज्ञानकोष आर्य वर्ग के जीवनविधान का विधायक दर्शन है। आर्यों के आदि सम्राट् राजर्षि मनु की घोषणा है कि **वेदोऽखिलो धर्ममूलः**, वेद ही मानव धर्म व मानव के जीवनविधान का मूल स्रोत है। वेद के सम्बन्ध में ऋषियों की घोषणा है, **"अनन्तो वै वेदाः "**, वेद अनन्त हैं। यह सत्य ही है क्योंकि ज्ञान की कोई सीमा नहीं। वह अनन्त वेद एक होता हुआ भी विषय भेद से कई नामों से पुकारा जाता है और वही वेद विषय विभाग के कारण चार रूपों में तथा चार नामों से अभिहित किया गया है, जिसे ऋक्, साम, यजु और अथर्व के नाम से जाना जाता है। वैदिक ज्ञानकोष में प्राचीनतम संकलन को संहिता कहते हैं। उसे मन्त्र भाग भी कहा जाता है। यह मन्त्र संहिता गद्य और पद्य दोनों रूपो में संकलित है। पश्चात के ऋषियों ने इन प्राचीनतम तत्त्वद्रष्टा महर्षियों के उपलब्ध ज्ञान को विस्तृत रूप से विवेचन करते हुए तत्कालीन जनता के लिए सुलभ किया। उन ऋषियों के द्वारा की गई वैदिक मन्त्रों की वृहद् व्याख्या बड़ी ही अद्भुत और वैज्ञानिक तथा बुद्धिग्राह्य है। वेद को ब्रह्म तथा उसकी रहस्योद्घाटिनी व्याख्या को ब्राह्मण शब्द से अभिहित किया गया है।

प्राचीनतम महर्षियों का चिन्तन जीवन, जगत् तथा उसके कारण के निगूढ़तम रहस्यों को उद्घाटित करने वाला था। साथ ही मानव जीवन तथा उसके प्रयोजन और उस प्रयोजन की पूर्ति के लिए संचित विधि–विधान के दिव्य संदेशों से भी युक्त था। अतः उस ब्रह्म रूप वेद की व्याख्या भी इन्हीं तत्त्वों को उद्घाटित करने में की गई। यह सर्वमान्य सत्य है कि मनुष्य दिव्य चेतना से युक्त है, यह चेतना ही बाह्य जगत् से सम्बन्धित होने पर विविध विषयों के ज्ञान रूप में परिणित हो जाती है। ज्ञान के साथ ही उसमें इन विषयों से सम्बन्धित इच्छा व संकल्प का उदय होता है और वही इच्छा आगे कर्म रूप में परिणित हो जाती

है। यह कर्म ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का परिचायक बनता है। व्यक्ति के जीवन में दुःख–सुख रूप में जो भोग है यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से वह उसके कर्म का ही परिणाम है किन्तु यदि गम्भीरता से विचार किया जाये तो इसमें कर्म की अपेक्षा व्यक्ति का चिन्तन वा ज्ञान ही मूल हेतु होता है। इसलिए ज्ञान अथवा वेद को ही सम्पूर्ण न्यायसंगत तथा व्यक्ति के विकासप्रद कर्मों का मूल कहा गया है। यहाँ पर यह स्मरण रखना है कि मानव के विकासप्रद न्यायसंगत किये हुये कर्म को ही धर्म की संज्ञा दी गई है; व्यक्ति के विकास में जो कर्म सहायक नहीं वे न्यायसंगत नहीं कहे जाते। उन्हें धर्म नहीं, अधर्म कहते हैं। उन अधर्ममय कर्मों का आधार वेद व ज्ञान नहीं है अपितु अज्ञान होता है। इसीलिए ऋषियों की घोषणा है कि वेद विरुद्ध कर्म ही धर्म है और वह व्यक्ति और समाज दोनों के लिए सर्वथा अहितकर एवं विनाशकारी ही सिद्ध होता है।

व्यक्ति के व्यक्तित्व का प्रकाशक उसका कर्म है। उस कर्म का प्रेरक उसकी इच्छा व संकल्प है और उसके उस संकल्प का जनक उसका अपना ज्ञान है। इस अनुभूत सत्य के आधार पर ही प्राचीनतम महर्षियों द्वारा दृष्ट ज्ञानकोष की व्याख्या को भी तीन भागों में विभाजित किया गया। उनमें सर्वप्रथम कर्म के यथार्थ स्वरूप और उसके प्रयोजन की मीमांसा करने वाले तथा उसके प्रयोगात्मक विधि–विधान की व्यवस्था देने वाले भाग को ब्राह्मण शब्द से अभिहित किया गया। व्यक्ति की इच्छाशक्ति को शुद्ध, सुदृढ एवं व्यक्ति और समाज के हित में परमोपयोगी बनाने की विविध विधाओं से युक्त व्याख्या को आरण्यक नाम दिया गया और व्यक्ति की क्रिया, कर्म और भाव दोनों को अनुशासित करने वाले जीव, जगत् तथा उसके कारण के यथार्थ स्वरूप के उद्‌घाटक ज्ञानमयी व्याख्या को उपनिषद् नाम से अभिहित किया गया। इस प्रकार वैदिक ज्ञानकोष मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्, इन चार रूपों में विस्तार को प्राप्त हुआ। यद्यपि इनमें से किसी भी भाग की उपेक्षा मानव के लिए उचित नहीं क्योंकि जीवन की समग्रता को समझने वा जानने के लिए उसे समग्रता के अवबोधक ज्ञान के समग्र रूप को ग्रहण करना, उस पर चिन्तन करना परमावश्यक है; फिर भी इनमें से कर्म प्रधान ब्राह्मण भाग तथा ज्ञान प्रधान उपनिषद् भाग, इन दोनों का अध्ययन, मनन व चिन्तन उसके लिए परम आवश्यक कहा गया है।

इस सृष्टि का प्रयोजन है –जीव के लिए भोग और मोक्ष प्राप्ति हेतु सर्व

प्रकार के साधनों को प्रदान करना। भोग की प्राप्ति में कर्म ही हेतु हुआ करता है और मोक्ष की प्राप्ति में ज्ञान। लौकिक तथा पारलौकिक भोग के अभीप्सु के लिये ब्राह्मण धर्म का अवलम्बन उपयोगी बताया गया है तथा मोक्षाभिलाषी के लिए औपनिषदिक धर्म को अमृत धर्म तथा शाश्वत धर्म कहा है। उपनिषद् का ऋषि भी प्रार्थना करते हुए कहता है –

यः उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु।

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वैदिक विज्ञान के प्रकाश में ही लौकिक तथा पारलौकिक सुख के अभीप्सु के लिए त्रयी धर्म और मोक्षाभिलाषी के लिए औपनिषदिक धर्म की प्रतिष्ठा की गई है। इन दोनों के पथिकों को क्रमशः प्रवृत्ति मार्गी तथा निवृत्ति मार्गी के रूप में भी जाना जाता है। प्रवृत्ति मार्गी के लिए गीता में पितृयान और निवृत्ति मार्गी के लिए देवयान शब्द का प्रयोग मिलता है। उपनिषद्, गीता तथा अन्य दार्शनिक सद्ग्रन्थ प्रधानतः मोक्ष धर्म का ही प्रतिपादन करते हैं, क्योंकि व्यक्ति के जीवन का परम लक्ष्य भोग नहीं मोक्ष है। इसलिए प्राचीन ऋषियों ने मानव के लिए मोक्ष को ही परम पुरुषार्थ घोषित किया है। इस पुरुषार्थ की प्राप्ति में प्रधानतः दो ही मुख्य साधन हैं जिन्हें उपनिषद् तथा गीता ने संन्यास और योग के नाम से घोषित किया है। मेरे विचार से उपनिषदों का संन्यास ही महर्षि पतंजलि का पर–वैराग्य है और योग ही उनका अभ्यास। गीता में भगवान् ने बड़ी दृढता के साथ यह बात समझाई है कि संन्यास के बिना कोई व्यक्ति योगी नहीं बन सकता।

न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन।।

(गीता ६/२)

निश्चय ही सब संकल्पों के त्याग के बिना कोई भी योगी नहीं हो सकता। एक दूसरे श्लोक में भी कहा है –

सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते।

(गीता ६/४)

अर्थात् सम्पूर्ण संकल्पों का त्याग हो जाने पर ही साधक योगारूढ़ कहा जाता है। योग आत्मस्थिति वा स्व–स्वरूपप्रतिष्ठा का नाम है। चित्त में स्फुरित होने वाले अनेक भाव–विकारों के रहते हुए चित्त कभी भी प्रशान्त नहीं हो सकता। प्रशान्त चित्त ही निरुद्ध चित्त कहा जाता है। चित्त की निरुद्धा वा प्रशान्तावस्था में ही

उसका प्रकाशक चिदांश पुरुष अपने कारण रूप पुरुषोत्तम के साथ अभिन्नता की अनुभूति करता हुआ अपने सच्चिादानन्द स्वरूप में अवस्थित होता है। इस स्थिति को प्राप्त हुए पुरुष को ही आत्मरत, आत्मतुष्ट तथा आत्मतृप्त बताते हुए भगवान् ने गीता के तीसरे अध्याय में यह घोषणा की है कि उसके लिये कुछ भी कारणीय कार्य शेष नहीं रह गया है। सारांश यह कि योगनिष्ठ पुरुष कृत्कृत्य हो जाता है। यह कृत्कृत्यता ही इस जीव के जीवन का परम पुरुषार्थ है, जिसकी सिद्धि संन्यास के बिना सम्भव नहीं।

यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि संन्यास का यथार्थ स्वरूप क्या है ? संन्यास शब्द का अर्थ है सम्यक् न्यास व पूर्ण त्याग। त्याग किस का किया जा सकता है, यह एक विचारणीय विषय है। मेरे विचार से जो कुछ भी अपने सहज स्वभाव व गुण, धर्म से सम्बन्धित है, उसका त्याग कभी भी किसी भी परिस्थिति में किया ही नहीं जा सकता। इससे यह निश्चय होता है कि त्याग सदैव विजातीय पदार्थों व गुण धर्मों का ही किया जाना सम्भव है। यह सर्वानुभूत सत्य है कि विजातीय तत्त्वों तथा उनके गुण–धर्म–राग ही व्यक्ति के समस्त दुःखों का कारण है। तत्त्वद्रष्टा मनीषियों ने उस राग के आश्रयभूत विजातीय तत्त्वों तथा तज्जन्य गुण–धर्म स्वभाव को सम्यक् प्रकार से त्यागने का उपदेश दिया है। क्योंकि विजातीय तत्त्वों के त्याग के बिना स्व–स्वरूप अवस्थिति तथा अनुराग सम्भव नहीं और यह सदैव याद रखना चाहिए कि निज स्वरूप में पूर्ण स्थिति वा प्रतिष्ठा ही योग शब्द से अभिहित है। अतः योग की सिद्धि सम्यक् न्यास रूप संन्यास के बिना सम्भव नहीं। मुण्डकोपनिषद् में मोक्षाभिलाषी साधक के लिए सर्वविध लौकिक तथा वैदिक कर्मों के न्यास के साथ परमतत्त्व की प्राप्ति का उपदेश देते हुए महर्षि अंगिरा ने कहा है –

वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्थाः संन्यासयोनाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृतात्परिमुच्यन्ति सर्वे।।

जिन्होंने उपनिषद् विज्ञान द्वारा उसके अर्थभूत उस परमतत्त्व को निश्चयपूर्वक जान लिया है, संन्यास योग द्वारा जिनकी बुद्धि पूर्णतया शुद्ध हो गई है, वे सभी प्रयत्नशील साधक मरणकाल में शरीर त्याग कर ब्रह्मलोक में जाते हैं और परम अमृतस्वरूप को प्राप्त कर सर्वथा जन्म–बन्धन के प्रवाह से मुक्त हो जाते हैं। इस मन्त्र में सत्त्व अर्थात् चित्त शुद्धि के लिए संन्यासयोग को ही एकमात्र साधन

बताया है। इस साधन का अवलम्बन लेकर ही यत्नशील साधक परमात्म बोध रूप सिद्धि को प्राप्त करता है और वही शरीरान्त के पश्चात परमात्मा के परमधाम को प्राप्त कर कृत्कृत्य हो जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि संन्यास ही एकमात्र चित्त शुद्धि का उपाय है। यही निर्देश हमें छान्दोग्य की श्रुति द्वारा भी प्राप्त होता है। कई आचार्यों का कथन है कि लौकिक तथा वैदिक सभी प्रकार के कर्म प्राकृत साधनों से ही सम्पन्न होते हैं। अतः वे सभी प्राकृत होने से विजातीय हैं। इन सभी कर्मों का पूर्णतया त्याग ही यथार्थ संन्यास है। किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण इस विचारधारा से सहमत नहीं। उनका कथन है कि –

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

(गीता ३/५)

बिना कर्म किये कोई एक क्षण भी स्थिर नहीं रह सकता। यथार्थतः यह सभी का जाना हुआ सत्य है कि जब तक स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर के साथ इस जीवात्मा का सम्बन्ध है, तब तक उसमें कर्म होते ही रहेंगे। इसे कभी भी किसी के द्वारा त्याग देना सम्भव नहीं। इसलिए प्रभु का कथन है कि संन्यास का अभिप्राय सर्वविध कर्मों का न्यास नहीं अपितु काम्य कर्मो का ही सम्यक् प्रकार से न्यास संन्यास है।

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।।

(गीता १८/२)

त्रिकालदर्शी महर्षियों का कथन है कि काम्य कर्मो का पूर्णतया त्याग ही संन्यास हैं। कर्म के दो रूप हैं – काम्यकर्म और कार्य कर्म। जो कुछ अपने व्यक्तिगत सुख की प्राप्ति के लिए वा पेट और परिवार की पूर्ति के लिए आसक्तिवश मनुष्य करता है, उसे काम्यकर्म कहते हैं और जो कुछ लोकसंग्रह वा लोककल्याण के लिए अपने प्राप्त साधनों के द्वारा सर्वरूप में प्रकट सर्वेश्वर की अर्चना के रूप में किया जाता है, उसे कार्य कर्म कहते हैं। गीता का कथन है कि फल की चाह का त्याग कर जो व्यक्ति विवेक के प्रकाश में कार्य–कर्मों का अनुष्ठान करता रहता है, वही संन्यासी तथा योगी है, अग्नि तथा सर्वविध कर्मों का त्याग करने वाला नहीं। भगवान् ने स्वमत का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि –

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।

कर्तव्यानीति में पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्।।
नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः।।
(गीता १८/६,७)

"यज्ञ, दान और तप रूप कर्म का कभी भी त्याग नहीं करना चाहिये, ये सदैव करणीय हैं। निष्कामभाव से किया हुआ यज्ञ, दान और तप मनीषीजनों को भी पवित्र बनाता है। अतः इन कर्मों को फल और आसक्ति का त्याग कर कर्त्तव्य दृष्टि से अवश्य ही करते रहना चाहिए, यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है।" नियत किए हुए कर्म का पूर्णतया त्याग करना उचित नहीं। इस प्रकार का त्याग मोह तथा अज्ञान से किया हुआ होने से तामसिक त्याग कहा जाता है। सारांश यह कि कर्मसंन्यास का अभिप्राय केवल काम्य कर्मों का त्याग ही नहीं अपितु कार्य–कर्मों की भी आसक्ति एवं फल के त्याग को भगवान् यथार्थतः संन्यास घोषित करते हैं।

फिर यहाँ प्रश्न होता है कि यदि काम्य कर्मों का त्याग ही संन्यास है अथवा सर्वविध कार्य कर्मों के फल और आसक्ति का त्याग ही संन्यास है तो फिर उसके लिए वर्तमान में प्रचलित वेश परिवर्तन रूपी संन्यास का क्या प्रयोजन रह जाता है ? इस प्रश्न के उत्तर में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि तत्त्वविज्ञान की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु तथा घटना का विशेष अर्थ हुआ करता है। जिस प्रकार से प्रत्येक वस्तु स्वयं में एक विशेष गुण–धर्म को लिए हुए अपनी स्थिति का अवबोधन कराती है उसी प्रकार विशेष घटनाएँ भी घटित होकर अपने होने की विशिष्टता का अवबोधन कराती हैं। संन्यास की दीक्षा ही स्वयं में एक व्यक्तिगत जीवन में घटित हाने वाली महत्त्वपूर्ण घटना है। इसके लिए व्यक्ति प्रथम विविध प्रकार के साधन और स्वाध्याय द्वारा स्वयं को तैयार करता है। इस घटना का मुख्य लक्ष्य होता है शरीर तथा इन्द्रियजन्य सम्पूर्ण संस्कारों को विसर्जित कर व्यक्ति का सीमा से मुक्त हो भूमा से युक्त हो जाना। जीवन में अन्य संस्कार माता, पिता, पति, पत्नी, आचार्य आदि के द्वारा सम्पन्न किए जाते हैं किन्तु इस संस्कार का कर्त्ता व्यक्ति स्वयं होता है। दृढ़ निश्चय के साथ सर्वव्यापी परमेश्वर तेजपुंज, भुवन को प्रकाशित करने वाले भगवान् भास्कर तथा अन्तर को अपने दिव्य ज्ञान से प्रकाशित करने वाले सद्‌गुरु के समक्ष व्यक्ति स्वयं अपने शरीर से तथा इन्द्रियों

से सम्बंधित सम्पूर्ण संस्कारों, सम्बन्धों, देश, जाति, कुल, गोत्र के चिन्हों तथा लौकिक और पारलौकिक सम्पूर्ण मान्यताओं को विसर्जित करते हुए सर्वसंन्यास की प्रतिज्ञा करता है और अब तक के गृहीत व स्वीकृत समस्त संस्कारों, सम्बन्धों, मान्यताओं तथा चिन्हों को त्यागकर अलिंग, असंग तथा निर्द्वन्द्व हो जाता है। इस घटना के घटित हो जाने पर सद्‌गुरु आत्मा तथा परमात्मा से सम्बन्धित दिव्यता से अभिभूत नवीन नाम, रूप तथा वेश को प्रदान करता है और वह व्यक्ति स्वीकार की गई समस्त सीमाओं से विमुक्त हो भूमा से युक्त हो जाता है। यद्यपि संन्यास काम्यकर्म तथा कर्मफल के सम्यक् न्यास को ही कहा जाता है, किन्तु जब तक काम्यकर्मों तथा कर्मफल के मूल कारणों का उच्छेद नहीं हो जाता तब तक यह संन्यास जीवन में प्रतिष्ठित नहीं हो पाता। गम्भीरता से विचार करने पर यह ज्ञात होगा कि शरीर तथा उसके सम्बन्धियों के प्रति राग ही काम्यकर्मों एवं कर्मफल की प्राप्ति की कामना में हेतु हुआ करता है। जब तक इस राग का सम्यक् त्याग न हो जाय, व्यक्ति शरीर से सम्बन्धित सीमा से मुक्त न हो जाये, तब तक न तो काम्यकर्मों का त्याग होता है, न कर्म–फल की आशा का ही। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ आन्तरिक संन्यास सर्व संकल्प न्यास से होता है वहीं पर बाह्य रूप से संन्यास की सिद्धि के लिए राग तथा बन्धन के समस्त हेतुओं से मुक्त होने की प्रतिज्ञा भी परम आवश्यक है। प्राचीन ऋषियों ने संन्यासी के लिए काषाय वस्त्र धारण का विधान किया है। वैज्ञानिक लोग जानते हैं कि सूर्य की किरणों से प्रकट होने वाले विविध प्रकार के रंगों का व्यक्ति के जीवन पर कितना प्रभाव पड़ता है। काषाय वस्त्र अग्नि व उदित होते हुए भास्कर का प्रतीक है। जैसे अग्नि प्रकाश, दाह और शक्ति, इन तीनों का स्रोत है और उसमें निहित ये तीनों तत्त्व अपने लिए नहीं सर्वथा परमार्थ ही के लिए होते हैं उसी प्रकार से काषाय वस्त्रधारी व्यक्ति ज्ञान, प्रेम एवं क्रिया शक्ति का पुंज होता है और उसमें ये तीनों उसके अपने लिए नहीं सर्वभूतहित सम्पादन के लिए ही निवास करते हैं। सारांश यह है कि काषाय वस्त्रधारी संन्यासी संसार के संकीर्ण सम्बन्धों एवं मान्यताओं से विमुक्त होता है। उसका जीवन देश, काल, परिस्थिति, जाति, सम्प्रदाय आदि की सीमाओं से सर्वथा परे होता है। उसका ज्ञान, उसका प्रेम, उसके द्वारा किया जाने वाला कार्य–कर्म लोक कल्याण व सम्पूर्ण प्राणियों के हित में सहयोगी बनता है। तभी तो उपनिषदों में उसे साक्षात् नारायण का स्वरूप कहा गया है।

उपनिषदों में संन्यासी के चार भेद बताए गए हैं। इनके नाम हैं – कुटीचक, बहुदक, हंस और परमहंस। इन्हीं उपनिषदों में छः प्रकार के संन्यासियों का भी वर्णन है। जहाँ सन्यासी के छः भेद बताये हैं वहाँ पर इनके साथ तुरीयातीत तथा अवधूत ये दो नाम और हैं। इन सभी के अलग–अलग चिन्ह एवं इनकी आन्तरिक अवस्था अनुसार इनके व्यवहारों का भी वर्णन प्राप्त होता है, जिसका विस्तार से वर्णन किसी अन्य लेख में किया जायेगा। यहाँ इतना और बता देना आवश्यक समझता हूँ कि ये सभी प्रकार के संन्यासी स्त्री और पुरुष दोनों वर्गों के व्यक्ति होते रहे हैं। इसमें लिंग भेद के लिए कहीं स्थान नहीं है। प्राचीन काल के इतिहास में ऐसी अनेक देवियों का उल्लेख प्राप्त होता है। वाल्मीकि रामायण में ऋषिकन्या तपस्विनी ब्रह्मचारिणी स्वयंप्रभा तथा भीलकन्या तपस्विनी संन्यासिनी शबरी का नाम परम प्रसिद्ध है। उसी प्रकार से महाभारत में विदेहराज जनक को तत्त्वज्ञान का उपदेश देने वाली त्रिदण्डधारिणी ब्रंह्मचारिणी संन्यासिनी सुलभा का नाम बड़े गौरव के साथ लिया गया है। आभृण ऋषि की पुत्री ब्रह्मवादिनी वाक् तथा महर्षि भारद्वाज की पुत्री ब्रह्मचारिणी भारद्वाजी भी प्रसिद्ध देवियाँ हो गई हैं। उपनिषद् में याज्ञवल्क्य से ब्रह्मविद्या पर शास्त्रार्थ करने वाली ब्रह्मवादिनी संन्यासिनी गार्गी का नाम कौन नहीं जानता ! इनमें से बहुत सी देवियाँ तुरीयातीत तथा अवधूत अवस्था को प्राप्त हुई परम तत्त्वद्रष्ट्री संन्यासिनी थीं। अभिप्राय यह कि वैदिक धर्म में जिस प्रकार से प्रवृत्ति मार्ग के अनुगमन में स्त्री और पुरुष दोनों का समान रूप से अधिकार है, ठीक उसी प्रकार से परम पुरुषार्थ के साधन स्वरूप निवृत्ति मार्ग के अनुगमन में भी स्त्री और पुरुष दोनों समान रूप से अधिकारी हैं। वैदिक साहित्य तथा उसके रहस्य को उद्घाटित करने वाले इतिहास और पुराणों में इसके अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। यहाँ यह भी बता देना अनुचित न होगा कि वेद प्रतिपादित धर्म की दोनों विधाओं का उपदेश मानवमात्र के लिए दिया गया है। उसमें किसी देश–विशेष, जाति–विशेष तथा वर्ग–विशेष के लिए विशेषाधिकार का स्थान नहीं क्योंकि वैदिक महर्षि मानवमात्र के पूर्वज हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में यह बताया है –

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्थता।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः।।

(गीता १०/६)

भृग्वंगीरा, मरीचि, पुलस्त्य, कुल, क्रतु, अत्रि और वशिष्ठ, ये सप्तऋषि सम्पूर्ण दिव्य गुणों से युक्त तथा महान् होने से महर्षि कहे गये हैं। ये सृष्टि के आदिपुरुष ब्रह्मदेव के मानस पुत्र हैं और इनके द्वारा ही मानवीय सृष्टि का आविर्भाव हुआ है। इन महर्षियों के साथ ही स्वयभूं, स्वारोचिश, उत्तम, और तामस, इन चार मनुओं से ही सम्पूर्ण मानवीय सृष्टि का विस्तार हुआ है। यह मनु भी ब्रह्मदेव के ही मानस पुत्र हैं। अभिप्राय यह है कि महर्षियों और राजर्षियों द्वारा इस सम्पूर्ण मानव सृष्टि का आविर्भाव हुआ है। उन महर्षियों और मनुओं के द्वारा दृष्ट वैदिक संहिता एवं उनके पुत्रों तथा शिष्यों द्वारा की गई उस संहिता के वृहद् व्याख्या स्वरूप ज्ञानकोष पर किसी एक देश, जाति व वर्ग–विशेष का अधिकार नहीं हो सकता। वैदिक ज्ञान का उत्तराधिकारी मानवमात्र है चाहे वह किसी भी देश व भेष में क्यों न रहता हो। व्यक्ति अपनी बौद्धिक स्थिति के अनुसार भोग व मोक्ष की अभीप्सा लिए हुए वेद प्रतिपादित प्रवृत्ति व निवृत्ति मार्ग का अवलम्बन ले अपने अभीष्ट की सिद्धि प्राप्त कर सकता है।
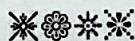
योग और यज्ञ

मनुष्य का शरीर विराट् की प्रतिमूर्ति है। वैदिक साहित्य में विराट के स्वरूप में त्रिलोकी की उद्भावना की गई है; जिसे संक्षेपतः भूः, भुवः, स्वः, इन तीन व्याहृतियों से अभिहित किया गया है। भूः भूलोक, भुवः अन्तरिक्षलोक और स्वः द्युलोक का अवबोधक है। उसी प्रकार मनुष्य के शरीर में भी नाभि से लेकर नीचे पाँव तक भूः लोक, नाभि से कण्ठ तक अन्तरिक्ष लोक और कण्ठ से मूर्धा तक द्युलोक की स्थिति है। जीव की स्थिति प्रायः भूलोक में ही हुआ करती है। संसार के विषयों में प्रवृत्ति, वित्तेषणा और पुत्रेषणा, ये द्विविध ईषणायें भूलोक से ही सम्बन्धित हुआ करती हैं जो कि सामान्य जीवो में पाई जाती हैं। संसार–प्रवाह में पतित होने में ये द्विविध ईषणायें ही कारण हुआ करती हैं। तीसरी लोकेषणा है जो कीर्ति के रूप में जानी जाती है। इसकी पूर्ति मानव तभी कर सकता है जबकि वह भूलोक की सीमा से ऊपर उठ जाये और अन्तरिक्ष में स्थित हो जाये। कुछ उन्नत प्रकार के जीव अपने शुभ कर्मों द्वारा उस स्थिति को प्राप्त हो कीर्ति का भाजन बनते हैं। वैदिक विधान में विहित कर्मों द्वारा वित्तेषणा और पुत्रेषणा को पूर्ण करने की व्यवस्था दी गई है और यज्ञ–दानादि शुभ कर्मों के द्वारा लोकेषणा को पूर्ण करने का विधान किया गया है किन्तु यदि जीव की आन्तरिक चाह त्रिविध ईषणाओं से विमुक्त हो परमपद को प्राप्त करने की हो तो उसके लिए योग का प्रशस्त मार्ग ही एकमात्र अवलम्बन है।

योगविज्ञान जीव को भू और भुवः अर्थात् भूलोक और अन्तरिक्षलोक, दोनों से ऊपर उठाकर द्युलोक में प्रतिष्ठित कर देता है। वैदिक भाषा में द्युलोक ही अमृत लोक है–**त्रिपादस्य अमृतं दिवि**– इसी अमृत को प्राप्त करना जीव का परम लक्ष्य है और यही है उसका अन्तिम साध्य। यहाँ पर प्रश्न यह होता है कि भू और अन्तरिक्ष अर्थात् त्रिविध ईषणाओं से जीव उस गति को कैसे प्राप्त हो, उसके लिए कौन सा साधन है ? इस सम्बन्ध में वैदिकविज्ञान में जिन अग्नियों की स्थिति का वर्णन किया गया है और बताया गया है कि यह सम्पूर्ण त्रिलोक त्रिविध अग्नियों

का ही अभिव्यक्त रूप है। इन त्रिविध अग्नियों को ही उपनिषदों में तेज, अप और अन्न के नाम से वर्णन किया गया है। इन तीनों के यथार्थ बोध और इनकी उपासना के द्वारा ही यह जीव भू और अन्तरिक्ष से उपरत हो द्युलोक में प्रतिष्ठा को प्राप्त कर पाता है। ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र जिस अग्नि की स्तुति करता है वह यही त्रिविध अग्नियाँ हैं। त्रिविध कहने का अभिप्राय यह कि एक ही परम अग्नि तत्त्व त्रिधा अर्थात् तीन रूपों में होकर तीनों लोकों में अवस्थित है। योग मार्ग की साधना में क्रमशः भूलोक की अग्नि को प्रज्वजित कर उसमें समस्त कंचन और कामिनी अर्थात् वित्तेषणा और पुत्रेषणा के संस्कारों को भस्मसात करने की व्यवस्था है और अन्तरिक्ष की अग्नि को प्रज्वजित कर समस्त स्वर्गादि के सुखों और सुकीर्ति की वासना रूपी लोकेषणा को प्रदग्ध कर दिया जाता है, फिर द्युलोक की अग्नि को प्रज्वलित कर साधक को सर्वथा निर्वासनिक कर उसे अनन्त प्रकाशस्वरूप परमेश्वर में प्रतिष्ठित होने का मार्ग प्रशस्त किया जाता है। प्रायः यम, नियम, आसन आदि की सिद्धि से भूलोक की अग्नि प्रज्वलित होती है। इसके लिए विविध प्रकार के षट्कर्म, विविध प्रकार की मुद्रायें और बन्ध आदि भी इसमें सहायक होते हैं, प्राणायाम और प्रत्याहार द्वारा अन्तरिक्ष की अग्नि को प्रज्वलित किया जाता है जिससे लोकेषणा से विमुक्त हो साधक परम सिद्धि की साधना का अधिकारी बनता है। धारणा, ध्यान और समाधि का अभ्यास द्युलोक की अग्नि को प्रज्वलित करने का मुख्य साधन है। इससे अविद्याजन्य समस्त वासनायें अपने कारण सहित विदग्ध हो जाती हैं और जीव स्व–स्वरूप प्रतिष्ठा वा परमेश्वर में नित्य स्थिति रूप परम सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। वैदिक भाषा में जो साधन यज्ञ शब्द से सम्बोधित किया गया है तत्त्वतः उपनिषदों में वही आध्यात्मिक उत्थान में मूल हेतु योग शब्द से वर्णित है।

यज्ञ और योग यथार्थतः इन दोनों का लक्ष्य एक ही है। जिस प्रकार योग के बहिरंग और अन्तरंग रूप से दो प्रकार की साधनाओं का व्यक्तिगत उत्थान के रूप में वर्णन किया गया है, उसी प्रकार से यज्ञ के भी बहिरंग और अन्तरंग दो भेद हैं। आरण्यकों और उपनिषदों के अध्ययन से इस रहस्य का बोध प्राप्त होता है। साधक के लिए प्राप्त करने योग्य अवस्थाओं में जिस प्रकार बहिरंग योग साधना का फल विविध उत्तम लोकों की प्राप्ति है उसी प्रकार से बहिरंग यज्ञों द्वारा भी उत्तम लोकों की प्राप्ति होती है। योग तथा यज्ञ की अन्तरंग साधनाओं का परम

लक्ष्य एक ही है। श्रीमद्भगवदगीता में भगवान् ने इन दोनों की उच्चतम अवस्थाओं का निर्देश दो श्लोकों में किया है। योग की उच्चतम अवस्था को प्राप्त हुए योगी की स्थिति का वर्णन करते हुए प्रभु ने कहा है :–

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।।

(गीता ६/३२)

" जो योगी अपनी आत्मा के समान ही सर्वत्र सभी प्राणियों के साथ एकीभाव को प्राप्त हुआ समान रूप से दुःख–सुख को देखता है, वह योगी श्रेष्ठ माना गया है।" सर्व रूप में आत्मा का दर्शन करने वाला योगी श्रेष्ठतम माना गया है। दूसरे शब्दों में अद्वैतानुभूति ही योगी का परम लक्ष्य है। उस अवस्था को प्राप्त कर योगी सर्वत्र एकत्व की अनुभूति करता हुआ शोक–मोह से विमुक्त हो जाता है। यज्ञ मार्ग का अवलम्बन लेने वाला साधक जिस उच्चतम अवस्था को प्राप्त करता है उसका वर्णन करते हुए प्रभु कहते हैं –

ब्रह्मार्पणं ब्रह्मंहविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।।

(गीता ४/२४)

ब्रह्मवेत्ता की दृष्टि में यज्ञ के साधन चमस, स्रुवा आदि, यज्ञ की सामग्री ब्रह्म हवि आदि और जिस अग्नि में वह उन सामग्रियों का हवन करता है, वह अग्नि तथा हवन की क्रिया, ये सब कुछ ब्रह्म रूप ही है, ऐसा देखता है और इस ब्रह्म कर्म में समाधि से प्राप्त होने वाला फल भी ब्रह्म ही है, उस ब्रह्मवेत्ता की अनुभूति में अद्वैत ब्रह्म के सिवा अन्य कुछ भी नहीं होता। इस प्रकार अन्तरंग योग व यज्ञ मार्ग, दोनों का प्राप्तव्य एक है और दोनों की विधियाँ भी समान ही बताई गई हैं। इनका भेद बहिरंग साधनों में सर्वथा भिन्न होते हुए भी समान फल प्राप्ति में हेतु होता है, यह शास्त्रीय सिद्धान्त है। गीता के शब्दों में इन दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि यज्ञमार्ग की बहिरंग साधना में उसके सविध पूर्ण न होने पर अभिक्रम के नाश और प्रत्यवाय की आशंका बनी रहती है किन्तु योग मार्ग के बहिरंग साधनों में इस प्रकार की आशंका नहीं होती। इस दृष्टि से गीता में यज्ञमार्ग की अपेक्षा योगमार्ग को निरापद बताया गया है। योगमार्ग की बहिरंग साधना में लगा हुआ साधक जितनी मात्रा में उसका अभ्यास करता है, उतनी मात्रा में उसके लाभ से

कभी भी वंचित नहीं रहता। वर्तमान में भारत तथा विश्व के अन्य देशों में भी योग का बहिरंग साधन ही विशेष रूप से प्रचलित है। यथाशक्ति और यथा ज्ञानानुसार अधिकांश लोग उसके अभ्यास में कुछ समय व्यतीत कर उसके आंशिक लाभ से लाभान्वित हो रहे हैं। मेरी राय है कि यदि आध्यात्मिक उन्नति की चाह न भी हो, शारीरिक, मानसिक स्वस्थता और बौद्धिक विकास के लिए योग के बहिरंग साधनों का अभ्यास किसी जानकार योगी के निर्देश में प्रशिक्षित हो यथाशक्ति यथासमय व्यक्ति को अवश्य करते रहना चाहिए। इससे लाभान्वित हो उसे स्वभावतः आन्तरिक साधनों में प्रवृत्त होने की रुचि हो जायेगी और वह परिणामतः परम सिद्धि की प्राप्ति में प्रवृत्त हो स्वयं के जीवन को सार्थक बना लेगा। बहिरंग साधनों से भी साधक अपनी चेतना को भूलोक से उत्थित कर क्रमशः अन्तरिक्ष लोक में प्रतिष्ठित कर सकता है। यद्यपि अन्तरिक्ष लोक में स्थित चेतना की पुनः भूलोक में लौट आने की सम्भावना बनी रहती है, फिर भी वह साधक त्रियक आदि योनियों के प्रवाह से सदा के लिए बच जाता है और पूर्वानुभूति से प्रेरित हो स्वयं को पुनः उत्थान की दिशा में प्रवृत्त कर देता है। गीता के छठे अध्याय के अन्त में भगवान् ने बड़े ही सुन्दर शब्दों में इसका विवेचन किया है। एक ही नहीं अनेक जन्मों के अभ्यास से मनुष्य क्रमशः उत्थित होता हुआ द्युलोक में स्थित हो अमृतत्त्व का भाजन बन जाता है। सारांशतः विवेकशील मनुष्य के लिए किसी भी स्थिति में रहते हुए योगमार्ग का अवलम्बन ले अपने कल्याण की साधना में निरत होना ही श्रेयस्कर है।

साधक, साधन और उसका उद्देश्य

व्यक्ति विराट् का अंग है और विराट् उसका अंगी। अंग की स्वस्थता और विकास के लिए अंगी का स्वस्थ और विकसित होना परमावश्यक है क्योंकि अंगी के प्रकाश में ही अंग का विकास सम्भव है अन्यथा नहीं, अतः यदि व्यक्ति विराट् से विमुख तथा विलग होकर अपने विकास की कल्पना करता है तो यह उसकी अबोधता ही समझनी चाहिए। अबोधता वा अज्ञान व्यक्ति के जीवन में अशान्ति और दुःख का ही जनक होता है। कितने आश्चर्य की बात है कि दुःख एवं अशान्ति से छुटकारा प्राप्त करने के लिए मानव दुःख के कारणभूत अज्ञान का आश्रय ले व्यष्टि भाव की सुरक्षा एवं उसके पोषण में ही निरत रहता है और व्यष्टि भाव में आबद्ध होकर ही वह उन समस्त क्रियाकलापों को करता रहता है, जिससे भिन्नता की पुष्टि और दृढ़ता की ही वृद्धि होती है। मेरे विचार से जिन साधनों तथा स्वीकृतियों से मनुष्य में व्यष्टि भाव की पुष्टि होती है, उन्हें ही पाप तथा दुष्कृत समझना चाहिए और जिन साधनों एवं स्वीकृतियों से व्यष्टिभाव गल कर विराट् के साथ एकता प्राप्त होती हो, उन्हीं को पुण्य वा सुकृत समझना चाहिए। सुकृति ही भगवान् के कृपापात्र हो कर सुख–शान्ति के भाजन बनते हैं और दुष्कृति ही आसुरी भाव को प्राप्त हो अधोगति को प्राप्त होकर दुःख तथा संताप के पात्र बनते हैं। संक्षेप में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि व्यष्टिभावापन्न शरीरस्थ व्यक्ति भोगमार्ग का अवलम्बन ले अधोगति को प्राप्त होता है तथा विराट् में आस्था रखते हुए साधक योग मार्ग का अवलम्बन ले शाश्वत शान्ति एवं आनन्द स्वरूप मोक्ष का अधिकारी होता है। यह मुनष्य के अपनें ऊपर निर्भर करता है कि वह कौन सी दिशा में गतिशील होता है। गीता में प्रभु ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है –

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः।।

(गीता ६/५)

मनुष्य को चाहिए कि वह अपने द्वारा अपना उद्धार करे, अपना पतन न करे क्योंकि व्यक्ति स्वयं ही अपना बन्धु है और स्वयं ही अपना शत्रु भी। कठोपनिषद् में यह बात समझाई गई है कि जो अपनी इन्द्रियों को सयंमित करके, मन को स्ववश कर लेता है उसका मन उसका बन्धु हो जाता है। किन्तु जिसकी इन्द्रियाँ स्वच्छंद हैं, मन अस्थिर, चंचल एवं विषयाधीन है उसका वही मन शत्रु है। मनुष्य शरीर को प्राप्त कर जीव यदि अपने प्राप्त साधनों को स्वयं के उद्धार में प्रयोग नहीं करता, उन साधनो द्वारा सीमित अहं की पुष्टि के साथ व्यष्टि भाव की सुरक्षा तथा भोग सामग्रियों के संचय में ही अहर्निश लगा रहता है, वह भाग्यहीन न तो अपने द्वारा अपना उद्धार ही कर पाता है और न कभी दूसरे के ही सुख में सहयोगी बन पाता है। ऐसा हतभाग्य व्यक्ति अपने कर्मों द्वारा अपने को पतन के गर्त में ही ले जाता है, इसी को भगवान् ने आत्म अवसादन कहा है। गोस्वामी जी के विचारानुसार परमात्मा ने करुणा करके इस जीवात्मा को मानव शरीर प्रदान किया है। अब इस श्रेष्ठतम साधन–धाम शरीर का सदुपयोग करना उसके अपने ऊपर ही अवलम्बित है। इसमें यदि वह प्रमाद करता है तो उसका उत्तरदायी वह स्वयं होता है। व्यक्ति के प्रमाद के परिणामस्वरूप उसका केवल परलोक ही नहीं नष्ट होता अपितु यह लोक भी दुःखालय बन जाता है। परिणाम में उसके पास पश्चाताप के सिवा और कुछ हाथ नहीं आता। ऐसे व्यक्ति के ही सम्बन्ध में गोस्वामी जी ने लिखा है –

सो परत्र दुख पावई सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहिं कर्महिं ईस्वरहिं मिथ्या दोष लगाइ।।

अर्थात् प्रमादी व्यक्ति परलोक तथा इस लोक में भी दुःख का भाजन बनता है और परिणाम में सिर पीट–पीट करके पश्चाताप की अग्नि में जलता रहता है। वह अज्ञानी अपने दुःख एवं संताप का कारण कभी समय को बताता है और कहता है कि मेरा समय ही खराब है, कभी कर्म वा भाग्य को कोसता रहता है और कभी ईश्वर को दोषी ठहराता है। सत्य तो यह है कि ईश्वर, कर्म और काल, ये तीनों कभी भी किसी के पतन में वा अधोगति में हेतु नहीं होते, ईश्वर जीव के जीवन रूपी सरिता का स्रोत है। वह सदैव उसे जीवनी शक्ति प्रदान कर रहा है किन्तु उस शक्ति के सदुपयोगं तथा दुरुपयोग का वह नियन्ता नहीं। उसके दिव्य विधान में प्राप्त शक्ति के प्रयोग में जीव स्वतंत्र है अतः उसके पतन में ईश्वर हेतु नहीं

परन्तु उसके विकास में वह परम सहयोगी अवश्य है। यदि व्यक्ति अपनी अधोगति में परमात्मा को कारण मानता है तो वह उसके प्रमाद के सिवा कुछ नहीं।

कर्म का अभिप्राय पूर्वकृत कर्मफल अथवा भाग्य से है। भाग्य वा कर्म किसी व्यक्ति के पतन में हेतु नहीं होता क्योंकि जिसे भाग्य कहा जाता है वह तो व्यक्ति के पूर्वजन्म के किए हुए कर्मों का ही परिणाम होता है। उत्तम कर्म उत्तम परिणाम देता है और दुष्कर्म का परिणाम दुःखद होता है। यहाँ पर यह बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मनुष्य से इतर अन्य किसी भी योनि में न तो कर्म की स्वतन्त्रता है और न तो उसके अनुष्ठान की व्यवस्था ही। विभिन्न योनियों में भटकते हुए जीव पर करुणा करके परमात्मा उसे मानव शरीर प्रदान करता है। अल्पज्ञ जीव प्रमादवश भोगासक्त हो उस उत्तम साधन का विषयों की पूर्ति में ही प्रयोग करते हुए आनन्दित होता है। इस सृष्टि प्रवाह में इस प्रकार की घटना नई नहीं, वह अनेकों बार पहले भी घट चुकी है तभी तो जीव के लिए उसका कर्म विपाक प्रारब्ध रूप में उसके दुःख–सुख में हेतु बना है। यह सदैव स्मरण रहना चाहिए कि जीव के लिए यह मानव जीवन न तो प्रथम है और न अन्तिम ही। कई बार पहले भी मानव शरीर प्राप्त हो चुका है, उसमें किए हुए विविध प्रकार के कर्मों के कुछ परिणाम प्रारब्ध रूप से मिले हैं जिनको भोग रहा है और कुछ संचित रूप में आशय में पड़े हुए हैं जिनका परिपाक भविष्य के शरीरों में हेतु बनेगा। यह प्रारब्ध और संचित, दोनों प्रकार के कर्म व्यक्ति के स्वयं के द्वारा ही किए हुए हैं और इनके करने से यह सदैव स्वतन्त्र रहा है तथा आगे भी रहेगा। अतः पतन के लिए भाग्य को कोसना निरर्थक है।

काल अखण्ड है और वह सभी जीवों के लिए सदैव समान भाव में ही स्थित रहता है, उसमें न तो किसी प्रकार की ईहा ही है और न तो कर्तृत्व ही। वह न तो किसी के पतन में ही हेतु होता है न उत्थान में ही। उसमें भूत, भविष्य की कल्पना, वस्तु वा व्यक्ति सापेक्ष हुआ करती है। अपनी सत्ता में तो वह सदैव वर्तमान है। काल की जिस अवस्था में सुधीजन सत्कर्म का अनुष्ठान करते हैं उसी अवस्था में दुर्जन दुष्कर्म का। सज्जनवृंद जिस काल में एकत्रित हो कर परस्पर भगवान् के दिव्य गुणों का चिन्तन, मनन और गान करते हैं उसी काल में मद्यपायी एकत्रित हो कर मद्यपान में, विषयी विषय भोग में, जुआरत जुए में और चोर चोरी के कार्य में प्रवृत्त होता है। अभिप्राय यह कि काल कभी भी किसी व्यक्ति के कर्म

में हेतु नहीं बनता। वह केवल साक्षीमात्र है, सत्ता मात्र है; अतः अपने पतन में काल को हेतु बताने वाला अज्ञानी कभी भी अपने किए हुए कर्म के परिणाम से विमुक्त नहीं हो सकता। इसी सत्य को समझाते हुए गोस्वामी जी कहते हैं – काल, कर्म और ईश्वर पर दोषारोपण करना भ्रान्तिपूर्ण तथा मिथ्या है। परमात्मा प्राणियों का परम सुहृद पिता है और उसकी पराशक्ति परमेश्वरी सभी जीवों की करुणामयी मां। माता–पिता के द्वारा सृजित इस श्रेष्ठतम मानव शरीर को प्राप्त करके भी यदि जीव अपने उद्धार के लिए प्रयत्न नहीं करता तो यह उसका प्रमादजन्य दुर्भाग्य ही कहा जाएगा। वेद, शास्त्र और सत्पुरुषों की यही घोषणा है कि मनुष्य को चाहिए कि वह प्रमादरहित हो सावधानी से सत्संग एवं सद्गुरु का समाश्रय ग्रहण कर, उनके द्वारा बताई हुई विधि को अपना कर आत्मोद्धार की साधना में प्रवृत्त हो जाए। साधना के विभिन्न भेद हैं, उनमें से जो अपनी प्रकृति एवं बौद्धिक स्थिति के अनुकूल हो उसी का अवलम्बन लेना श्रेयस्कर होता है किन्तु उन विविध साधनाओं में भी कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं जिनका अनुष्ठान सभी मार्ग के साधकों के लिए परमावश्यक है। उनमें यम–नियम का पालन तथा किसी मंत्र वा शब्द विशेष का अवलम्बन सभी साधकों को लेना ही होता है, बिना इनके साधना में प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। वर्तमान में कुछ ऐसे नवीन सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ है जो अल्पबुध मानव समाज को साधना के नाम पर पतन की ओर प्रवृत्त करने में ही सहायक बने हुए हैं। उनके द्वारा आहार–विहार की शुद्धि की उपेक्षा कर कल्पित साधनों के अनुष्ठान की सीख मनुष्य के लिए न तो लोक की साधना में ही उपयोगी हो सकती है न परलोक की ही। गीता में भगवान् की यह घोषणा है कि योग ही मनुष्य के शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक दुःखों के शमन में एक मात्र उपाय है और वह योग युक्त आहार, युक्त विहार, युक्त चेष्टा और युक्त कर्मों के द्वारा ही संध पाता है । इतना ही नहीं उस योग की साधना में जागने और सोने का भी युक्त स्थान होना चाहिए। जो साधक किसी के बहकावे में आकर, भय वा प्रलोभन के वश हो कर प्राप्त बुद्धि कर प्रयोग न कर प्रमादवश गीता के इस आदेश की उपेक्षा करता है, वह कभी दुःखों के विनाशक उस योग को सिद्ध नहीं कर पाता। अतः साधक को चाहिए कि वह भगवान् के बताए हुए आहार, विहार, चेष्टा, कर्म, जागना वा सोना, इन छः को संयमित कर साधना में प्रवृत्त हो। साथ ही महर्षि पतंजलि द्वारा निर्दिष्ट साधन के आधारभूत यम और नियम को भी अपने

जीवन में पूर्णतया प्रतिष्ठित करे, तभी उसकी साधना सार्थक एवं सफल हो पाएगी। मांस, मदिरा, मैथुन, जूआ, अंडे, मछली, धूम्रपान आदि का सर्वथा त्याग कर साधना में प्रवृत्त होना चाहिए। जिस प्रकार से कुपथ्य सेवन के साथ रोगी को कितनी भी अच्छी औषधि क्यों न दी जाए वह उसके रोग निवारण के बजाय वृद्धि में ही हेतु हुआ करती है उसी प्रकार से ऊपर कहे हुए व्यसनों में अनुरक्त हुआ व्यक्ति यदि साधना का अवलम्बन लेता है तो उसमें सीमित अहं के विलीनीकरण के बजाय दिनों–दिन उसकी पुष्टि ही हुआ करती है। कभी–कभी ऐसा साधक अपने लिए ही नहीं बल्कि समाज के लिए भी अभिशाप सिद्ध होता है। ऐसे साधकों की अनेक कहानियाँ इतिहास तथा पुराण ग्रंथों में उल्लेखित हैं। असंयमित साधना ही आसुरी साधना कही जाती है। आसुरी साधना व्यक्ति के लिए भले ही भोग प्रदान करने में सहायक हो जाय किन्तु वह समाज के लिए तो सदैव अभिशाप ही सिद्ध हुआ करती है। आध्यात्मिक साधना का प्रयोजन व्यक्ति के आत्मोत्थान के साथ ही लोक–कल्याण का सम्पादन भी हुआ करता है। जिस साधना के द्वारा लोक कल्याण सिद्ध न होता हो उससे कभी भी आत्मोत्थान नहीं हो सकता, यह परम सत्य है। जैसा कि मैंने पूर्व में संकेत किया है कि व्यक्ति विराट् का अंग है, विराट् ही लोक शब्द से अभिहित होता है। उसी का विशिष्ट अंग राष्ट्र वा समाज है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में व्यक्ति, राष्ट्र और विराट् को ब्रह्म की महिमा के रूप में वर्णित किया गया है। गीता में भगवान् ने व्यक्ति, विभूति, राष्ट्र वा समाज एवं विराट् को अपना ऐश्वर्य बताया है। अभिप्राय यह कि व्यक्ति, समाज, राष्ट्र, विराट्, ये सभी एक दूसरे से अभिन्न सम्बन्ध रखते हैं। इनमें से एक के हित में ही दूसरे का हित निहित समझना चाहिए। आसुरी साधनाएँ यथार्थतः न तो व्यक्ति के हित का ही सम्पादन कर सकती हैं और न ही वे समाज वा लोक के लिए ही हितकारी होती हैं। अतः साधक को भूल कर भी कभी उनका अवलम्बन नहीं लेना चाहिए। जो ग्रन्थ, पंथ, संस्थाएँ वा सम्प्रदाय मनुष्य को यह सीख देते हों कि आध्यात्मिक उत्थान में संयम का कोई स्थान नहीं, उनसे सदैव सावधान और दूर ही रहना चाहिए। याद रहे कि मांस, मत्स्य, अंडे आदि सभी मानव के लिए अभक्ष्य हैं। इसी प्रकार मद्य भी मानव की बुद्धि का विनाशक है। धूम्रपान अप्राकृत होने से सर्वथा त्याज्य है; क्योंकि प्राकृत विधान से हम प्राणवायु वा ऑक्सीज़न को ग्रहण करते हैं, अपान अथवा कार्बनडायऑक्साईड का त्याग करते हैं; किन्तु धूम्रपान करने

वालों का आचरण सर्वथा इसके विपरीत होता है जो प्रकृति के नियमों का सर्वथा उल्लंघन है, जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति के जीवन में अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। विशेषकर रक्तवाहा नाड़ियों का दूषित होना तथा ज्ञानवाहा नाड़ियों का निर्बल होना इसका कुपरिणाम है। जूआ एक ऐसा व्यसन है जो व्यक्ति में अनेक प्रकार की बुराइयों को जन्म देता है। इसी प्रकार से व्यभिचार की प्रवृत्ति भी इन सभी दुष्वृत्तियों से युक्त भला आध्यात्मिक उन्नति की साधना में कैसे सफल हो सकती है। यह केवल शास्त्रसम्मत ही नहीं अपितु युक्ति तथा विवेकसम्मत है कि साधक को सदैव शुद्ध सात्त्विक आहार और दुर्वासना रहित व्यवहार के साथ ही आध्यात्मिक अनुष्ठान में प्रवृत्त होना चाहिए, तभी उसे सफलता प्राप्त हो सकेगी। साधक के जीवन का लक्ष्य होना चाहिए अपना कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण और ये दोनों साथ–साथ ही सधते हैं।

मेरे विचार से शास्त्र एवं अनुभवी सत्पुरुषों के सान्निध्य में रहते हुए उनके सद्विचारों के श्रवण–मनन के साथ ही साधक को साधना में प्रगति प्राप्त होती है। साधक को मितभोगी, मितभाषी होना चाहिए, साथ ही निद्रा भी चार घण्टे से अधिक नहीं लेनी चाहिए। गुरु प्रदत्त मंत्र का जाप एवं इष्ट के गुण, स्वभाव एवं स्वरूप का चिन्तन करते हुए उसके ध्यान में निरत रहने का अभ्यास करना चाहिए। सर्वरूप में विराजित सर्वेश्वर की अनन्यभाव से उपासना ही साधना का श्रेष्ठतम बल है, जिसका अवलम्बन ले व्यक्ति स्वयं के जीवन को कृत्कृत्य कर लेता है और इसके साथ ही लोकहित में भी परमोपयोगी सिद्ध होता है।

पातंजल योगदर्शन
उसके साधन और साध्य

साधना प्रधान ग्रन्थों में पातंजल योगदर्शन का प्रमुख स्थान है और उसमें बताई हुई चतुर्विध साधनाएँ साधन क्रम में अपना प्रमुख स्थान रखती हैं। महर्षि पतंजलि द्वारा साधन का प्रयोजन अनागत वा आने वाले दुःख से विमुक्त होना है। महर्षि का कथन है कि जिन दुःखों को मानव भोग चुका है, उनके विषय में विचार करना, सोचना वा प्रयत्न करना व्यर्थ है। वे तो अतीत के गर्त में जा चुके हैं। वर्तमान केवल **'है'** मात्र है, उसकी कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। अतः उसके विषय में किसी भी प्रकार का चिन्तन सम्भव नहीं है। मनुष्य के लिए अभिनिवेश का कारण केवल अनागत दुःख ही हुआ करता है। अतः महर्षि कहते हैं –**हेयं दुःखमनागतम्** अर्थात् अनागत दुःख ही भयावह वा हेय है, उसी से विमुक्त होने के लिए मनुष्य को प्रयत्न करना चाहिए। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि महर्षि पतंजलि के दर्शन वा तद्गत साधन का मुख्य प्रयोजन अनागत दुःख से मुक्ति है। आगे महर्षि विचार करते हैं कि इस दुःख का कारण क्या है ? उनका कथन है –**तस्य हेतुरविद्या** उस अनागत दुःख में अविद्या ही मूल कारण है। जब तक मानव अविद्या से मुक्त नहीं होता तब तक वह दुःख से सदा के लिए छुटकारा नहीं पा सकता। आचार्य ने अविद्या का रूप भी समझाया। उनका कथन है कि अनित्य में नित्य की, अपवित्र में पवित्र की, दुःखमय में सुख की तथा अनात्मा में आत्मा की प्रतीति ही अविद्या का स्वरूप है। अविद्या अशुद्ध बुद्धि है, तमस् तथा रजस् से अभिभूत बुद्धि को ही अशुद्ध बुद्धि कहते हैं। सांख्य की तरह योगदर्शन भी चित्त को तीनों गुणों का परिणाम मानता है। अन्तर इतना है कि सांख्य उसे महतत्त्व वा बुद्धि कहता है और योगदर्शन उसे चित्त। त्रिगुणात्मक चित्त जब तमोगुण से अभिभूत होता है तब उसमें अशुद्धता वा गन्दलापन आ जाता है। जैसे गन्दले पानी में सूर्य का प्रतिबिम्ब दिखाई नहीं देता ठीक उसी प्रकार से अशुद्ध चित्त में अभिव्यक्त वा प्रकाशित होने वाला चिदांश

भी अपने यथार्थ रूप में दिखाई नहीं देता और चित्त में जब रजोगुण का प्रभाव बढ़ जाता है तब उससे चंचलता आ जाती है क्योंकि रजोगुण क्रिया प्रधान है। जैसे लहरों से युक्त जल में सूर्य का प्रकाश तो दिखाई देता है परन्तु सूर्य का प्रतिबिम्ब यथार्थ रूप से दिखाई नहीं देता, ऐसे ही रजोगुण प्रधान चित्त में उसके प्रकाशक चिदांश का यथार्थ रूप दिखाई नहीं देता। सारांश यह है कि तमोगुण और रजोगुण दोनों ही जीव के यथार्थ स्वरूप का अवबोधन कराने में अक्षम हैं। इसीलिए इनकी प्रधानता में चित्तगत चेतन अपने यथार्थ स्वरूप को भूलकर चित्त के साथ ही तादात्म्य कर लेता है और चित्त की वृत्तियों को ही अपना स्वरूप मान लेता है; यही कारण है कि वह जगत् में चित्तवृत्तियों के अनुरूप ही अपने में गुण–दोष को स्वीकार कर विविध प्रकार के कार्यों में प्रवृत्त होता हुआ उसके परिणाम स्वरूप मिलने वाले दुःख–सुख का भाजन बना रहता है।

एक बात ध्यान रखने की है कि चित्त प्रकृति का कार्य है और वह अनेक होने से सीमित तथ अणु परिणाम वाला है। किन्तु उसमें अभिव्यक्त हो उसे प्रकाशित करने वाला चिदांश चेतन स्वभावतः विभु है; इसलिए चित्त के साथ तादात्म्य होने पर भी वह स्वयं में अपने यथार्थ स्वरूप विभुता की ही लालसा रखता है और उसी को सतत प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। तम और रजोगुण की प्रधानता में उसे अपने यथार्थ स्वरूप की अनुभूति नहीं हो पाती इसलिए वह सतत दुःखी रहता है। यह विपरीत ज्ञान रूप अविद्या उसमें और भी अनेक प्रकार के दोषों को उत्पन्न कर देती है, जिसे महर्षि पतंजलि ने अस्मिता–राग–द्वेष और अभिनिवेश नाम से वर्णन् किया है। चेतन जब चित्त में आत्मभाव स्थापित कर लेता है तो सर्वप्रथम उससे अहं वृत्ति का उदय होता है, यही अहं वृत्ति उस विभु को सीमा में आबद्ध कर उसमें जीव भाव को जन्म देती है। इसी स्थिति का वर्णन करते हुए गोस्वामी जी ने विनय पत्रिका में लिखा है –

जिव जबतें हरितें बिलगान्यो। तबतें देह गेह निज जान्यो।।
माया बस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रमतें दारुन दुःख पायो।।

अर्थात् एक अखण्ड सर्वव्यापी चैतन्यघन को हरि कहते हैं। चित्त में अभिव्यक्त होने वाले उस हरि के चिदांश को ही जीव कहा जाता है। चित्त के साथ तादात्म्य भाव को स्वीकार कर लेने पर ही वह चिदांश स्वयं को हरि से भिन्न मान लेता है। यहाँ पर गोस्वामी जी ने जो माया शब्द का प्रयोग किया है, वह अविद्या के

ही अर्थ में है। योगदर्शन में अविद्या विपरीत ज्ञान का नाम है जो कि अशुद्ध बुद्धि से उत्पन्न होता है। अविद्या से उत्पन्न अहं भाव के बाद ही उसमें अनुकूल तथा प्रतिकूल सम्वेदना में दुःख की प्रतीति होती है, इनके परिणामस्वरूप सुखमय व्यक्ति तथा वस्तुओं से राग तथा दुःखमय व्यक्ति तथा वस्तुओं से द्वेष उत्पन्न हो जाता है। इन दोषों के साथ ही एक महाभयानक दुःखद दोष और भी उत्पन्न हो जाता है जिसे अभिनिवेश कहते हैं। अभिनिवेश शब्द के शब्दकोष में बहुत से अर्थ हैं परन्तु महर्षि पतंजलि की भाषा में इसका अर्थ है –मृत्यु वा विनाश का भय। यह भय विपरीत ज्ञानजन्य होने के नाते मिथ्या है परन्तु जब तक जीव को स्वस्वरूप में प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं हो जाती तब तक यह मृत्यु तथा विनाश का भय विद्वानों के भी साथ लगा रहता है। इसके लिए महर्षि का कथन है –

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूपोऽभिनिवेशः।

(यो०सू० २/९)

बिना चाहे हुये स्वभावतः जो विद्वानों के पीछे भी सदैव लगा रहता है, वह अभिनिवेश क्लेश है, इस प्रकार से विपरीत ज्ञान, अहंकार, राग, द्वेष और स्वयं के व्यक्तित्व के विनाश का भय, ये पांच प्रकार के क्लेश इस जीव को सतत पीड़ित किया करते हैं। इनमें विपरीत ज्ञान की जन्मदात्री अशुद्ध बुद्धि ही इन सबका कारण है। महर्षि के शब्दों में–

अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्।

(यो० सू० २/३)

जब तक चित्त की अशुद्धता का क्षय नहीं होता तब तक उसमें यथार्थ दृष्टि का उदय नहीं हो पायेगा। इस अशुद्धता के निराकरण के लिए ही महर्षि ने अपने योगदर्शन में चार प्रकार के साधनों की व्यवस्था दी है। ये साधन अधिकारी भेद से अनुकरणीय हैं। महर्षि के विचारानुसार उत्तम अधिकारी के लिए अभ्यास तथा वैराग्य ही चित्त को शुद्ध और स्थिर बनाने का साधन है। अभ्यास की सिद्धि के लिए वैराग्य ही उसका एक मात्र सहायक साधन है, जितनी मात्रा में प्रकृति के पदार्थों से वैराग्य हो जायेगा उतनी ही मात्रा में स्वस्वरूप में प्रतिष्ठा का अभ्यास दृढ़ होगा। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि चित्तगत चेतन परम चैतन्यघन सच्चिदानन्द की अंशाभिव्यक्ति है, इसका यथार्थ स्वरूप भूमा है किन्तु यह चित्त की सीमा में आबद्ध हो स्वयं को अल्प मान बैठा है, यही अल्प की मान्यता इसके

दुःख में हेतु है। श्रुति का उद्घोष है – **भूमा एव सुखं न अल्पं।** भूमा ही सुख स्वरूप है अल्प नहीं। साधक जब बार–बार अपने स्वस्वरूप अर्थात् भूमारूप का चिन्तन करता है और उसी में स्थित होने का प्रयत्न करता है तो उसे अभ्यास कहते हैं। स्वस्वरूप में स्थिति तब तक नहीं हो सकती जब तक कि चित्त तथा उसके कार्य स्वरूप अन्य पदार्थों में राग बना हुआ है। इसलिए साधक को चाहिए कि चित्त तथा उसके कार्य रूप जगत से धीरे–धीरे विरत होता हुआ आत्म स्वरूप में निरत होने का सतत अभ्यास करता रहे। महर्षि का कथन है कि इस अभ्यास को दीर्घ काल तक सतत आदरपूर्वक अर्थात् आस्था के साथ करते रहने से ही स्वस्वरूप में अवस्थिति प्राप्त होती है अन्यथा नहीं।

महर्षि के मतानुसार वैराग्य के दो रूप हैं। एक को अपर–वैराग्य तथा दूसरे को पर–वैराग्य कहते हैं। अपर–वैराग्य का सम्बन्ध जगत् के सम्पूर्ण देखे हुए सुखप्रद व्यक्ति तथा वस्तुओं से रागरहित होना और स्वर्गादि से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त शास्त्र द्वारा सुने हुए समस्त भोगों की चाह से विरत हो जाना है। दूसरे शब्दों में इसे यों भी कहा जा सकता है कि समस्त देखे तथा सुने हुए प्रेय पदार्थों की वासना का सर्वथा त्याग ही अपर–वैराग्य है। प्रेय की चाह से विमुक्त हुआ साधक ही श्रेय का अधिकारी होता है। कठोपनिषद् तथा श्रीमद्भगवद्गीता में इसका बहुत सुन्दर विवेचन प्राप्त होता है। अपर–वैराग्य की सिद्धि के साथ ही चित्त विशुद्ध तथा स्थिर हो जाता है क्योंकि चित्त की अशुद्धता एवं अस्थिरता में देखे तथा सुने हुए विषयों की वासना ही हेतु हुआ करती है। निर्वासनिक चित्त शुद्ध तथा शान्त होता है। चित्त की शुद्धि तथा शान्तावस्था में ही चेतन को स्वस्वरूप की अनुभूति तथा उसमें दृढ़ स्थिति प्राप्त होती है। स्वस्वरूप में स्थित होने पर ही चेतन चित्त के कारणभूत तम–रज तथा सत्त्व गुण स्वरूपा प्रकृति के यथार्थ रहस्य को जान पाता है। गुणों के यथार्थ स्वरूप का बोध होने पर और स्वयं से भिन्न उनके धर्म और स्वभाव को जान लेने पर उनसे चेतन की पूर्णतया विरति हो जाती है। उस अवस्था में चित्त अपने कारणरूप गुण में लीन हो जाता है और चेतन स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित हो आनन्दमग्न। गुणों से सर्वथा विरति को पर–वैराग्य कहते हैं और स्वस्वरूप प्रतिष्ठा को कैवल्य की सिद्धि। महर्षि पतंजलि के विचारानुसार चिदांश का अपने कारण स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना ही कैवल्य की प्राप्ति है और चित्त का अपने कारण में लय हो जाना ही परम निर्वाण है।

यह अभ्यास और वैराग्य रूप साधन मानव–मात्र के लिए करणीय हैं किन्तु विचारशील व बुद्धिप्रधान साधक ही इसे सुगमता से कर पाते हैं। इस अभ्यास–वैराग्य की साधना में महर्षि पतंजलि ने अलग से ईश्वर वा किसी भी अज्ञात शक्ति में आस्था की चर्चा नहीं की है। एक बात यहां याद रखनी चाहिए, सांख्य में जिसे महतत्त्व व बुद्धि कहा गया है योगदर्शन में उसी को चित्त शब्द से अभिहित किया गया है। बुद्धिप्रधान अधिकारी के लिए अभ्यास–वैराग्य ही सर्वोत्तम साधन है और स्वरूप–प्रतिष्ठा ही परम प्राप्तव्य साध्य। साधक का निज स्वरूप क्या है, इस सम्बन्ध में महर्षि ने केवल चित्ति शक्ति कह कर ही उसका निर्देश किया और बताया है–

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः
कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति।

(यो० सू० ४/३४)

अर्थात् पर–वैराग्य की सिद्धि होने पर चित्त के आधारभूत गुण अपने कारण स्वरूप में लीन हो जाते हैं तथा चित्त की प्रकाशिका जी चिति शक्ति है वह अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाती है, इसी को साधक की कृतार्थता वा कैवल्य प्राप्ति कहा जाता है। जिस चिति शक्ति की यहाँ बात कही गई है, उसका स्वरूप क्या है, वह व्यष्टि है वा भूमा, इस सम्बन्ध में महर्षि ने कुछ भी नहीं कहा है। उनके दर्शन के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि वह किसी एक ऐसे ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं जो अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश आदि क्लेशों से, सर्वविध कर्मों से, कर्मफलों से तथा उसकी वासनाओं से सर्वथा परे है और वह अपने आश्रित उपासकों के ऊपर अनुग्रह भी करता है। मेरे विचार से यही ईश्वर उस चिति शक्ति का परम आश्रय मूल स्रोत है। गीता में भगवान् ने उसी चिति शक्ति को अपनी जीवभूता पराप्रकृति कह कर सम्बोधित किया है। सारांश यह है कि चिति शक्ति की स्वस्वरूप में प्रतिष्ठा का अभिप्राय है उसके मूल स्रोत उस सर्वेश्वर में प्रतिष्ठा प्राप्त करना, यही महर्षि पतंजलि की साधना का परम साध्य तत्त्व है। महर्षि ने अपनी साधना की दूसरी, तीसरी और चौथी विद्या में उस परमेश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण की सीख दी है, जिसकी चर्चा हम उन साधना पद्धतियों में करेंगे।

❋❁❋❋

महर्षि पतंजलि का अष्टांगयोग

मानव जीवन में गति की दो दिशाएँ हैं—एक भोगमय पदार्थों से होती हुई अधोगति की दिशा और दूसरी योगमय साधनों से होती हुई ऊर्ध्वगति की दिशा। अधोगति काल, कर्म, स्वभाव तथा गुण के आवर्तों में आबद्ध क्लेश तथा संताप को प्रदान करती है जबकि ऊर्ध्वगति शम, सन्तोष, सत्संग और विचार से युक्त हो मानव को पूर्णत्व प्रदान करती है। मानव उन दोनों में से किसी भी एक दिशा में प्रयाण करने में पूर्णतया स्वतन्त्र है। दोनों दिशाओं में गति के लिए उसके पास प्राकृत विधान से साधन सुलभ हैं। यह निर्णय लेना व्यक्ति की स्वेच्छा पर निर्भर है कि वह किस दिशा का पथिक बनेगा। यह सर्वमान्य सत्य है कि व्यक्ति को जिस प्रकार का संग प्राप्त होता है उसी दिशा में उसकी प्रवृत्ति हो जाती है। कुसंग से अधोगति की ओर तथा सुसंग वा सत्संग से ऊर्ध्वगति की ओर गतिशील होने की प्रवृत्ति प्राप्त होती है। गोस्वामी जी का कथन है –

उपजइ बिनसइ ग्यान जिमि पाइ कुसंग सुसंग।

सुसंग से सुबोध की प्राप्ति होती है जिसके प्रकाश में मनुष्य योगपथ पर अग्रसर होता है। कुसंग से कुबुद्धि प्राप्त होती है जिससे मनुष्य में भोगात्मक वृत्ति का प्राबल्य होता है और वह कुपथ पर चल देता है। शास्त्र और संतों का यह कथन है कि सुमति और कुमति के बीज सभी व्यक्तियों में विद्यमान होते हैं। कुसंग से कुमति के बीज को अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित होने का साधन प्राप्त हो जाता है और सुसंग से सुमति के बीज को। यहाँ पर मैं सत्संग से अभिसिंचित सुमति के बीज को अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित अवस्था तक पूर्ण विकसित करने के साधनों पर ही विचार करूँगा। जिज्ञासुजन इसके प्रकाश में अपने लिए उचित मार्ग का चयन कर उस पर अग्रसर होने का प्रयत्न कर सकते हैं।

ऊर्ध्वगति की दिशा में जाने वाले मार्ग को ही योगमार्ग के नाम से अभिहित किया गया है। इस मार्ग के मर्मज्ञों में महर्षि पतंजलि का प्रमुख स्थान

है। उनके द्वारा विरचित दर्शन ने योगदर्शन के नाम से ही प्रतिष्ठा प्राप्त की है। यद्यपि योगमार्ग के प्रतिष्ठापक भगवान् हिरण्यगर्भ हैं, बाद में उनकी परम्परा में और भी अनेक आचार्य हो चुके हैं। कई उपनिषदों के प्रवक्ता महर्षियों ने भी इस मार्ग का समुचित वर्णन किया है और जिज्ञासु साधकों के लिए अनुभूत विधियों का भी निर्देश दिया है। महाभारत तथा अनेकानेक पुराणों में भी वृहद् रूप से इसका वर्णन प्राप्त होता है। इन सबके होते हुए भी महर्षि पतंजलि द्वारा प्रतिपादित योगपथ के वैज्ञानिक विश्लेषण का अपना एक स्वतन्त्र एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने अधिकारी भेद से ऊर्ध्वमार्ग वा योगमार्ग के पथिकों के लिए चार प्रकार की विधियों का निर्देश किया है, जिसे अभ्यास–वैराग्य योग, ईश्वर प्रणिधानयोग, क्रियायोग तथा अष्टांगयोग के नाम से जाना जाता है। इनमें से पूर्व की तीन प्रकार की विधियों वा साधनों का समास रूप से विवेचन किया जा चुका है। इस लेख में जिज्ञासु साधकों के लिए अष्टांगयोग की साधना से सम्बन्धित कुछ बातें बताएँगें।

महर्षि पतंजलि योगमार्ग को केवल मुक्ति का साधन ही स्वीकार नहीं करते, इसे वे सम्पूर्ण जीवन को सार्थक रूप से जीने की एक सर्वोत्तम विधा बताते हैं। उनका योगदर्शन श्रेष्ठतम जीवन–विधान का परिपूर्ण दर्शन प्रस्तुत करता है। महर्षि के विचारानुसार चित्त की पांच अवस्थाएँ होती हैं वा दूसरे शब्दों में मानवमात्र का चित्त पांच अवस्थाओं में ही कार्य करता है, जिसे क्रमशः मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध नाम से अभिहित किया गया है। इनमें से निरुद्ध चित्त तो सिद्ध वा जीवनमुक्त पुरुषों का ही हुआ करता है, उसके लिए किसी प्रकार की साधना की आवश्यकता नहीं होती और न ही ऐसे चित्त से युक्त पुरुष के लिए किसी प्रकार के साधन का विधान ही है। इसके अतिरिक्त चित्त की जो चार अन्य अवस्थताएँ हैं उनमें एकाग्र चित्त वाला व्यक्ति उत्तम अधिकारी कहा गया है। यह चित्त भी पूर्व जन्मों की साधना का ही परिणाम हुआ करता है। इस चित्त वाला व्यक्ति जन्म से ही साधक होता है। सत्यानुभूति वा स्वरूपप्रतिष्ठा की प्रबल जिज्ञासा होने के नाते एकाग्र चित्त वाला साधक जगत् के समस्त प्रेय पदार्थों वा प्रियजनों से विरत हो सद्गुरु की शरण ग्रहण कर अभ्यास–वैराग्य द्वारा स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित होने के प्रयत्न में निरत हो जाता है वा अन्य आश्रयों को त्याग सर्वभाव से सर्वेश्वर को समर्पित हो उनसे अभिन्न होने की साधना में निरत हो जाता है। ऐसे साधक की साधना में शास्त्र और सत्पुरुष सदैव सहयोगी हुआ करते हैं।

महर्षि ने इसी उत्तम अधिकारी के लिए अपने दर्शन के प्रथम चरण में इन दोनों प्रकार की विधियों का उल्लेख किया है।

दूसरे स्तर का अधिकारी विक्षिप्त चित्त वाला होता है। चित्त की इस अवस्था में रहने वाले व्यक्ति को अपने वर्तमान से सन्तुष्टि नहीं होती और वह जगत् के व्यक्तियों वा वस्तुओं से प्राप्त होने वाली किसी भी प्रकार की शान्ति और सुख की सम्भावना से निराश हो जाता है और ऐसे मार्ग की खोज में प्रवृत्त होता है जिस पर चलने से उसे आन्तरिक शान्ति और आत्मप्रसाद रूपी शाश्वत सुख की उपलब्धि की सम्भावना हो। इस प्रकार जगत् से विरत, स्वयं के वर्तमान से असन्तुष्ट किन्तु उज्ज्वल भविष्य का अभीप्सु जिज्ञासु ही विक्षिप्त चित्त वाला कहा जाता है। इस प्रकार के जिज्ञासु के लिए महर्षि ने क्रियायोग का मार्ग प्रस्तुत किया है। इससे विपरीत जो लोग मूढ़ तथा क्षिप्त चित्त की अवस्था में होते हैं, उनके जीवन में भी कभी सौभाग्य से सत्संग प्राप्त हो जाने से अन्तर्तम में निहित आत्म–कल्याण की भावना का उदय हो जाए तो ऐसे लोग भी सद्गुरु–कृपा के भाजन बन कर साधना में प्रवृत्त हो सकते हैं। ऐसे साधकों के लिए ही महर्षि ने अष्टांगयोग की व्यवस्था दी है।

यह परम सत्य है कि मानव समाज में सदैव बहुतायत मूढ तथा क्षिप्त चित्त की भूमिका में रहने वाले लोगों की ही हुआ करती है। महर्षि का कथन है कि चित्त की किसी भी भूमिका में रहने वाले मानव के लिए कल्याण का योगमार्ग सदैव खुला हुआ है। मानव अपनी आन्तरिक स्थिति के अनुसार उनका अवलम्बन ले अत्यन्त दुःखनिवृत्ति रूप कैवल्य वा मोक्ष का भाजन बन सकता है, इसमें सन्देह नहीं। जनसामान्य के लिए अष्टांगयोग का मार्ग ही सर्वोत्तम अवलम्बन है। इस मार्ग में यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार, ये पाँच बहिरंग साधन कहे गए हैं। धारणा, ध्यान और समाधि, ये तीन अन्तरंग साधन हैं। अन्तरंग साधनों का प्रयोग तो प्रत्येक पथ के योगी को करना ही होता है चाहे वह अभ्यासयोग का पथिक हो, ईश्वरप्रणिधानयोग वा क्रियायोग का। ध्यान और समाधि रूपी अन्तरंग साधन साधक की धारणा शक्ति पर ही अवलम्बित होते हैं और वह धारणा शक्ति शुद्ध सात्त्विक चित्त का सहज धर्म है। इसलिए महर्षि का कथन है कि योग के अंगों के अनुष्ठान से अशुद्धि का क्षय होने पर ही धारणा, ध्यान, समाधि के द्वारा सम्प्रज्ञात अवस्था की प्राप्ति होती है। सम्प्रज्ञात अवस्था में ही विवेक का उदय होता

है जिसके प्रकाश में चित्त और चेतन के यथार्थ स्वरूप का बोध प्राप्त कर साधक सदैव के लिए कृत्‌कृत्य हो जाता है।

यहाँ पर एक बात ध्यान रखनी है कि विक्षिप्तावस्था में रहने वाले मल का शोधन तप द्वारा किया जाता है और स्वाध्याय से विक्षेप तथा ईश्वरप्रणिधान से अविद्या का आवरण दूर होता है किन्तु मूढ़ और क्षिप्त चित्त की भूमिका में रहने वाले मानव के लिए मल–शोधन और विक्षेप–निवारण का उपाय यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार के सिवा कोई दूसरा नहीं है। जो व्यक्ति इन अंगों के अनुष्ठान किए बिना ही धारणा और ध्यान का प्रयत्न करता है, उसका सारा प्रयत्न राख में होम और ऊसर में बीज बोने जैसा ही निष्फल होता है, अतः सावधानी के साथ साधक को इन अंगों का अनुष्ठान करना चाहिए।

व्यक्ति के जीवन के दो पहलू हैं, जिन्हें अन्तरंग और बहिरंग के नाम से जाना जाता है। अन्तरंग जीवन को व्यक्तिगत जीवन कहते हैं और बहिरंग जीवन को सामाजिक जीवन। यदि व्यक्ति का व्यक्तिगत जीवन पवित्र तथा सात्त्विक नहीं है तो सामाजिक जीवन कभी भी सुन्दर तथा सर्वहितकारी नहीं हो सकता। महर्षि पतंजलि ने व्यक्ति के सामाजिक जीवन को सुन्दर एवं सर्वहितकारी बनाने के लिए जिन साधनों का उपदेश दिया है, उन्हें यम कहते हैं। यद्यपि अन्यान्य ग्रन्थों में यम के कई अंग बताए गए हैं किन्तु महर्षि ने उन सभी का सार रूप अपने दर्शन में यम के पाँच अंगों को ही प्रतिष्ठित किया है, जिनका नाम है –अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह। इन यम के अंगों को उन्होंने देश–काल की सीमा से मुक्त सार्वभौम महाव्रत के रूप में प्रस्थापित किया है। उनका कथन है कि किसी भी देश, जाति और वर्ग का व्यक्ति क्यों न हो, किसी भी देश, काल में व्यक्ति क्यों न रहता हो, यदि उसके जीवन में ये पाँच महाव्रत नहीं हैं तो वह कभी भी अपने लिए, समाज, राष्ट्र वा विश्व के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकता। हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार और संग्रह, ये पाँचों मानव–जीवन में महान् कलंक और समाज के लिए महान् अभिशाप हैं, इन पाँचों प्रकार की कुप्रवृत्तियों का सम्बन्ध सीधा समाज से ही होता है। हिंसा अपनी नहीं दूसरे की की जाती है, असत्य दूसरे से बोला जाता है, चोरी भी दूसरे की सम्पत्ति की की जाती है। इसी प्रकार से व्यभिचार और परिग्रह भी पर–सत्त्व से ही सम्बन्धित हैं। इनमें संग्रहवृत्ति की मूल कारणभूता कामना वा तृष्णा है जिससे प्रेरित होकर मनुष्य

पर–सत्त्व के अपहरण और उसके उपभोग रूप व्यभिचार में प्रवृत्त होता है। व्यभिचार की प्रबल वृत्ति ही मनुष्य को चोरी में प्रवृत्त करती है, उसके साथ ही असत्य एवं हिंसा क्रमशः जीवन में प्रवेश पाते हैं। इन अनर्थकारी कुप्रवृतियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मैंने अपनी "आपकी अपनी बात" नामक पुस्तक में किया है। विशेष जानकारी के लिए जिज्ञासु उसका अध्ययन कर सकते हैं।

मेरे विचार से व्यक्तिगत जीवन की अशुद्धता एवं अपवित्रता ही हिंसा आदि दुष्प्रवृत्तियों के जन्म में हेतु हुआ करती है। अतः साधक को चाहिए कि व्यक्तिगत जीवन को पावन बनाने वाले पंचविध नियमों का आस्था के साथ अनुष्ठान करे। इन नियमों में प्रथम स्थान शौच अर्थात् पवित्रता का है। यह पवित्रता दो प्रकार की कही गई है– शारीरिक तथा मानसिक। शारीरिक पवित्रता के अनुष्ठान से साधक को अपने शरीर के यथार्थ स्वरूप का बोध हो जाता है, जिसके फलस्वरूप उसे शरीर से उपरति वा अनासक्ति हो जाती है और मानसिक पवित्रता सिद्ध हाने पर वह दूसरे के संसर्ग से भी विरत हो जाता है। अभिप्राय यह कि वह दूसरे व्यक्ति के संसर्ग में सुख की खोज नहीं करता। शरीर अनित्य है, अपवित्र है, समस्त दुःखों का हेतु है तथा अनात्म तत्त्व है, इस यथार्थ का उसे बोध हो जाता है। यह साधक के लिए साधना में एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि कही गई है।

नियम का दूसरा अंग सन्तोष है। अपने प्रयत्न से प्राप्त हुए परिणाम का ही जीवन की स्थिति और विकास में प्रयोग करना तथा उसी में परितृप्त रहना ही सन्तोष कहा गया है। साधक–जीवन में यह सन्तोष एक महान् अस्त्र है। गोस्वामी जी का कथन है–

बिनु सन्तोष न काम नसाहीं । काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं।।

सन्तोष वृत्ति के बिना काम का नाश नहीं होता। काम वा कामना के रहते हुए मनुष्य कभी सुखी नहीं हो सकता, यही परम सत्य है। जिस प्रकार सन्तोष कामवृत्ति के नाश में सक्षम है उसी प्रकार से वह लोभवृत्ति को भी नष्ट कर देता है। गोस्वामी जी के शब्दों में–

उदित अगस्त पंथ जल सोषा। जिमि लोभहिं सोषहिं सन्तोषा।।

शरद ऋतु में आकाश में उदय होने वाला अगस्त नाम का तारा वर्षा ऋतु में वृष्टि के कारण मार्ग में फैले हुए सम्पूर्ण जल को उसी प्रकार सोख लेता है जैसे सन्तोष

लोभ को सोख लेता है। अभिप्रांय यह कि काम और तज्जन्य क्रोध तथा लोभ इन तीनों का निराकरण करने में सन्तोष से साधक को सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति होती है। काम, क्रोध, लोभ से विमुक्त जीवन में ही शान्ति और सुख की स्थायी प्रतिष्ठा संभव है। सन्तोष के पश्चात नियम के जो अन्य तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान रूप तीन अंग हैं इनकी व्याख्या क्रियायोग में की गई है। यहाँ भी साधकों की सुविधा के लिए संक्षेप में बता देना चाहता हूँ कि जो व्यक्ति बाहर–भीतर की शुद्धि चाहता हो उसे अपने आहार और व्यवहार को सदैव शुद्ध और सात्त्विक बनाए रखना चाहिए। आहार शुद्धि में केवल शुद्ध शाकाहार ही नहीं अपितु उसके साथ अन्याय द्वारा अर्जित आहार के साधन रूप धन का भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। इसके लिए महर्षि का कथन है कि अपने परिश्रम के परिणाम में मिले हुए पदार्थों में ही सन्तुष्ट वा तृप्त रहना मानव के लिए श्रेष्ठतम सुख का उपाय है। संत कबीर कहते हैं –

जब आवै सन्तोष धन, सब धन धूरि समान।

शुद्ध, संयमी, सन्तोषी व्यक्ति ही तपस्वी हो सकता है। तपस्या के द्वारा ही शरीर तथा इन्द्रियों की शुद्धता और मन का संयमन सम्भव है। तपस्वी ही स्वयं के जीवन वा सत्य का अन्वेषण कर सकता है। तैत्तिरीय श्रुति की घोषणा है–

तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपो ब्रह्मैव इति।

अर्थात् तप के द्वारा ही इस सृष्टि के कारणरूप ब्रह्म को जानने की जिज्ञासा कर, तप ही ब्रह्म है। तपस्वी ही स्वाध्याय निरत हो पाता है। सुखेच्छु, इन्द्रियारामी, विषयी व्यक्ति कभी भी स्वाध्याय में निरत नहीं हो सकता, न तो वह इष्ट के प्रति निष्ठवान हो सुस्थिर चित्त से मंत्र जाप ही कर पाता है और न सत्शास्त्रों का अध्ययन एवं स्वयं का अनुसंधान ही। सारांश यह कि तप और स्वाध्याय का आपस में अटूट सम्बन्ध है। तपस्वी, स्वाध्यायी ही सर्वभाव से सर्वेश्वर के आश्रित हो स्वयं के समस्त कर्मों को उसे समर्पित कर उसके नाम का सुमिरन एवं उसके रूप का ध्यान करने में सक्षम होता है। अतः तप–स्वाध्याय से युक्त व्यक्ति ही अपने सम्पूर्ण कर्मों को ईश्वर को समर्पित कर ईश्वरप्रणिधान रूप नियम के पांचवें अंग को धारण करता है। नियम का आश्रय ले साधक स्वयं के व्यक्तिगत जीवन को शुद्ध, सात्त्विक, स्वस्थ तथा सुन्दर बना लेता है और फिर उसमें हिंसा आदि की कुप्रवृति का जन्म नहीं होता। वह परम अहिंसक, सत्यनिष्ठ, अन्य के सत्त्व का

अपहरण न करने वाला सदाचारी एवं अपरिग्रही जीवनयापन करते हुए अपने तथा समाज के लिए परमोपयोगी सिद्ध होता है। यम–नियम के अनुष्ठाता का यह लोक सुधर जाता है और फिर वह परलोक की साधना में प्रवेश पाने का अधिकारी हो जाता है।

आध्यात्मिक साधना ही परलोक का प्रशस्त मार्ग है। उस मार्ग पर चलने की तैयारी में आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार का प्रमुख स्थान है। इनमें महर्षि के विचारानुसार आसन वही श्रेष्ठ है जिसमें साधक कुछ काल तक स्थिरता के साथ सुखपूर्वक बैठ कर अभ्यास कर सके। आसन की सुस्थिरता के लिए उन्होंने दो उपाय बताए हैं, प्रथम किसी मुद्रा विशेष में सुखपूर्वक बैठ जाए, शरीर के सम्पूर्ण अंगों को सुस्थिर और शिथिल कर दे और दूसरा शरीर तथा इन्द्रियों के संचालक मन को अनन्त में लगा दे। इसका अभ्यास करने से कुछ काल में एक आसन से सुदीर्घ काल तक बैठने की क्षमता प्राप्त हो जाती है। आसन के सम्बन्ध में महर्षि पतंजलि का तो इतना ही कथन है किन्तु कई उपनिषदों तथा योग के अन्य ग्रंथों में अनेक प्रकार के आसनों की सविध व्याख्या की गई है। इन आसनों के साथ ही शरीर और इन्द्रियों की शुद्धि के लिए नेती, धोती, बस्ती, कपालभाति, त्राटक आदि क्रियाओं की विधि तथा विविध बन्धों एवं मुद्राओं का भी वर्णन प्राप्त होता है। इनके साथ ही शरीर–शोधन के लिए शंख–प्रक्षालन की भी विधि बताई गई है। इन सारी क्रियाओं के साथ प्राण के संयमन का अटूट सम्बन्ध है। ये सारी क्रियाएँ हठयोग के नाम से विख्यात हैं। मैं स्वयं अपने साधनकाल में इस प्रकार की लगभग दो सौ क्रियाओं का अभ्यास करता रहा हूँ। इनके अभ्यास से शरीर, इन्द्रियाँ तथा मन के नियमन की अद्भुत क्षमता प्राप्त होती है जो कि योगाभ्यासी के लिए परम आवश्यक तत्त्व है। आसन के पश्चात् प्राणायाम का स्थान है, प्राणायाम से भी शरीर, इन्द्रियां एवं मन के नियमन में सहायता मिलती है। इतना ही नहीं यह चित्त की शुद्धि, बुद्धि की स्थिरता एवं प्रखरता में भी परम सहायक सिद्ध होता है। साधकों से मेरा निवेदन है कि हठयोग की विविध क्रियाएँ तथा प्राणायाम किसी अनुभवी, अभ्यासी योगी के सान्निध्य में रह कर अच्छी प्रकार सीख और समझ कर ही करनी चाहिए अन्यथा पुस्तक पढ़कर वा चित्र देख कर करने से लाभ की बजाय हानि की अधिक आशंका रहती है। महर्षि पतंजलि ने प्राणायाम की चार प्रकार की विधियों का निर्देश किया है जिनका रेचक, पूरक, कुम्भक तथा

बाह्य कुम्भक के रूप में अभ्यास किया जाता है, इसे किसी अनुभवी योगी से समझ कर ही करना चाहिए। योग के अन्य ग्रन्थों में आठ प्रकार के प्राणायाम का वर्णन है, जो सूर्यभेदी, चन्द्रभेदी, शीतकारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, उज्जायी तथा भुजंगी आदि नामों से वर्णित हैं। इन प्राणायामों के अलग–अलग प्रभाव भी बताए हैं, स्थानाभाव से इन सब का यहाँ उल्लेख नहीं किया जा सकता किन्तु यहां पर साधकों के लिए मैं एक बात अवश्य कहना चाहूँगा। सांख्य तथा योगशास्त्र के सिद्धान्तानुसार चित्त में चेतन के प्रकाश के साथ ही दो प्रकार के परिणामों का उदय होता है एक चेतनां और दूसरा प्राणनक्रिया। चेतना ज्ञानप्रधान होने से ब्रह्म तथा प्राणन क्रिया गतिप्रधान होने से कर्म के नाम से वर्णित है। यह ब्रह्म और कर्म दोनों का आपस में अटूट सम्बन्ध है। इन दोनों में से किसी एक का निरोध होने से दूसरे का निरोध स्वतः हो जाता है। चेतना ही मन है, प्राण के निरोध से मन का निरोध करना हठयोग का लक्ष्य है और मन के निरोध से प्राण का निरोध स्वतः हो जाता है, यह राज योग का सिद्धान्त है। जहाँ पर उत्तम अधिकारी के लिए अभ्यास योग के द्वारा मन के निरोध की विधि समझाई गई है, वहीं पर सामान्य अधिकारी के लिए अभ्यास योग के द्वारा मन के निंरोध की विधि समझाई गई है, वहीं पर सामान्य अधिकारी के लिए प्राण के निरोध के साथ मन के निरोध की व्यवस्था की गई है। प्राणायाम के अभ्यास से साधक में इन्द्रियों के नियमन का सामर्थ्य आता है, जिसे प्रत्याहार कहते हैं। स्वभावतः अपने विषयों से विरत हो इन्द्रियों का अपने गोलकों में केन्द्रित हो जाना प्रत्याहार है, जो आसन की स्थिरता तथा प्राण निरोध के अभ्यास से ही सध पाता है। प्रत्याहार की सिद्धि के पश्चात ही महर्षि ने साधक को धारणा, ध्यान और समाधि के अभ्यास की सलाह दी है। किसी देश वा स्थान विशेष में चित्त को टिकाने का नाम धारणा है, सुदीर्घकाल तक उसी में चित्त के टिके रहने का नाम ध्यान है और इस ध्यान के अभ्यास से उस धारणा स्थानीय वस्तुविशेष के साथ चित्त का तादात्म्य हो जाना समाधि है। साधक को चाहिए कि वह धारणा ओर ध्यान के अभ्यास से चित्त को समाधि की भूमिका तक पहुंचाने के लिए किसी एक वस्तु वा तत्त्व में धारणा करने का अभ्यास करे। इस अभ्यास के लिए ही हमारे यहां अनेक प्रकार के चिन्हों वा माध्यमों को स्वीकार किया गया है। सामान्यतः अपने इष्टदेव की मूर्ति वा चित्र में, दीपक की शिखा में, अग्नि की लपटों में, सूर्य,चन्द्रमा वा नक्षत्र विशेष में, सद्गुरु वा किसी

माहपुरुष के स्वरूप में चित्त को टिकाने का नाम मूर्त्त रूप तथा बाह्य धारणा है। शरीर के अन्दर मूलाधार से लेकर स्वाधिष्ठान, नाभि, हृदय, कंठ, तालुप्रदेश, भृकुटी तथा ब्रह्मरंध्र इनमें से किसी एक स्थानविशेष में चित्त को टिकाने का अभ्यास अन्तर धारणा है। मंत्र के अक्षरों का चिन्तन वा मंत्र के शब्द श्रवण में चित्त टिकाना वा मंत्र के अर्थ में चित्त को भावात्मक रूप से प्रतिष्ठित करना एक सूक्ष्म तथा उत्तम धारणा बताई गई है। धारणा का श्रेष्ठतम आधार है साधक के ब्रह्मचक्र में प्रकाशित होने वाली चेतना वा उससे उद्भूत शुद्ध अहं में चित्तवृत्ति को टिकाने का अभ्यास। इससे साधक उस चेतना के कारणस्वरूप परम चैतन्यघन तक पहुंचने और उससे अभिन्नता की अनुभूति करने में सक्षम हो जाता है, जो समाधि का श्रेष्ठतम परिणाम है।

महर्षि पतंजलि का कथन है कि साधक को, जो सबसे प्रिय वस्तु वा व्यक्ति हो, उसमें चित्त को टिकाने का प्रथम अभ्यास करना चाहिए क्योंकि उसमें सुगमता से चित्त टिक जाता है। जो साधक पहले स्थूल में धारणा करते हैं, उन्हें धीरे–धीरे सूक्ष्म में धारणा कर ध्यान का अभ्यास करना चाहिए तभी समाधि का यथार्थ लाभ प्राप्त हो सकेगा। धारणा, ध्यान और समाधि को महर्षि ने संयम की संज्ञा दी है। इसके अभ्यास से सिद्धि प्राप्त कर साधक सूक्ष्मतम, महान्तम, निकटतम तथा सुदूर स्थित वस्तु वा व्यक्ति में संयम करके उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर उसके यथार्थ स्वरूप को जान सकता है। भारत के प्राचीन ऋषियों ने इसी संयम की सिद्धि के बल पर इस सृष्टि के स्थूल, सूक्ष्म तथा कारणतत्त्व के रहस्यों का भी बोध प्राप्त कर उसका उद्घाटन किया है। इस संयम की सिद्धि का अंतिम लक्ष्य है परम चैतन्यघन परमात्मा में स्वयं को विलीन कर देना वा उससे एकत्व की अनुभूति कर उसके गुण–धर्म को स्वयं में अवतरित कर लेना। गीता में भगवान् ने इसे ही ब्राह्मी स्थिति के नाम से वर्णित किया है, योगी का यही परम प्राप्तव्य है। महर्षि पतंजलि के अनुसार साधक–पुरुष का अपने कारणस्वरूप पुरुषविशेष ईश्वर से अभिन्नता की अनुभूति ही असम्प्रज्ञात समाधि है, उसी को निर्बीज समाधि भी कहते हैं। इस समाधि को प्राप्त हुआ योगी जीवनमुक्त कहा जाता है और शरीर त्याग के पश्चात कैवल्य को प्राप्त कर लेता है। अष्टांगयोग का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करते हुए भी इस लेख का कलेवर बढ़ता जा रहा है, अतः जिज्ञासु साधकों से एक मुख्य बात बता कर मैं लेखनी को विश्राम देना चाहूँगा।

महर्षि पतंजलि की दृष्टि में यह दृश्य जगत् प्रकृति का परिणाम है। इस परिणाम रूप में अभिव्यक्त दृश्य जगत् का प्रयोजन है पुरुष वा जीवात्मा को भोग और मोक्ष प्रदान करना। प्रकृति के विलासपूर्ण वैभव की अनुभूति ही भोग है और इससे विरत हो अपने कारणस्वरूप सर्वज्ञ सर्वेश्वर में प्रतिष्ठा ही अपवर्ग वा मोक्ष है। समस्त प्राणियों में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जिसको प्रकृति ने वह सम्पूर्ण साधन प्रदान कर दिया है जिसके द्वारा वह भोग और मोक्ष दोनों की प्राप्ति कर स्वयं के जीवन को कृतार्थ कर सकता है। इस प्रकार से कृत्कृत्यता का साधन योग है; महर्षि ने जिसके चार रूपों का अपने दर्शन में उल्लेख किया है। मनुष्य अपनी योग्यतानुसार इन चारों में से किसी एक का अवलम्बन ले भोग तथा मोक्ष को सिद्ध कर स्वयं के जीवन को सार्थक बना सकता है। महर्षि पतंजलि का दर्शन तथा उनका योगमार्ग देश, काल, परिस्थिति की सीमा से सर्वथा परे है। वह कल्पनाजगत् की बात नहीं करते, वह मानव की आन्तरिक अभीप्सा को पूर्ण करने के लिए इस ठोस धरातल पर एक सर्वोत्तम व्यवस्था की विधि प्रदान करते हैं। किसी भी देश, जाति, समाज, वर्ग, लिंग वा रंग का व्यक्ति इस दर्शन के प्रकाश में योगमार्ग का अवलम्बन ले स्वयं के जीवन को सार्थक एवं धन्य बना सकता है, इसमें सन्देह नहीं। महर्षि के योगदर्शन की विशिष्टता के विषय में अब अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि आज विश्व के प्रत्येक राष्ट्र का मानव अपनी विभिन्न मान्यताओं, आस्थाओं, धर्मों, संस्कृतियों में रहता हुआ, उसका पालन करता हुआ भी महर्षि के बताए हुए योगमार्ग का अवलम्बन ले आन्तरिक शान्ति और अनुपम सुख का अनुभव कर रहा है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि महर्षि द्वारा प्रतिपादित सार्वभौम योगमार्ग किसी देश, जाति, धर्म वा विश्वास की सीमा में बंधा हुआ नहीं। वह सार्वभौम तथा सर्वहितकारी मार्ग है, जिस पर चलता हुआ व्यक्ति अपने लिए भोग और मोक्ष दोनों को ही सिद्ध कर लेता है और समाज के लिए भी परमोपयोगी तथा परम सहायक सिद्ध होता है। अतः यदि कहा जाये कि वर्तमान की संकटपूर्ण स्थिति में मानवजाति के लिए यदि कोई आग्रहमुक्त सर्वोपयोगी सर्वहितकारी विकास का सुगम मार्ग महर्षि पतंजलि द्वारा प्रतिपादित योग मार्ग है तो उसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इन्हीं शब्दों के साथ साधकों के प्रति अनन्त मंगल कामनाएँ व्यक्त करते हुए अपनी लेखनी को विश्राम देता हूँ।

❀❀❀

हठयोग–साधना और सिद्धि

सनातन धर्म की विविध साधना पद्धतियों में हठयोग का प्रमुख स्थान है। सामान्य स्थिति में रहने वाला साधक एकाएक इन्द्रियसंयम तथा मन को एकाग्र करने में सक्षम नहीं हो पाता इसके लिए योगाचार्य महर्षियों ने शरीर–शोधन, इन्द्रिय–शोधन तथा अन्तःकरण–शोधन के विविध उपायों का अन्वेषण कर मोक्षाभिलाषी सामान्य साधकों के लिए भी इन्द्रिय–निग्रह तथा मन के नियमन का मार्ग प्रशस्त किया है। हठयोग की साधना राजयोग में परम सहायक है। मेरे विचार से सामान्य अवस्था में रहने वाला साधक हठयोग की साधना के बिना राजयोग के अभ्यास में सक्षम नहीं हो सकता।

हठयोग क्या है, इसे हठयोग क्यों कहते हैं, साधक को इसका बोध होना आवश्यक है। हमारे इस जीवन का मूल स्त्रोत्र प्राण है। प्राण का स्थूल रूप दोनों नासिका छिद्रों द्वारा श्वास का आवागमन है। दोनों नासिका छिद्रों के द्वारा आने जाने वाला प्राण दो विशेष नासिका से सम्बन्धित है। इन नासिकों को इड़ा और पिंगला नाम से शास्त्रों में वर्णित किया गया है; इनमें बायीं नासिका छिद्र को इड़ा तथा दाहिनी नासिका छिद्र को पिंगला कहते हैं। ये दोनों नाड़ियां स्पाइनल कॉर्ड अर्थात् रीढ़ ही हड्डी में क्रमशः वाम भाग और दक्षिण भाग में रहती हैं। इन दोनों के मध्य में एक नाड़ी और होती है जो रीढ़ की हड्डी के कसेरुओं के बीच में होती है, इस नाड़ी का नाम सुषुम्ना है। यौगिक भाषा में बायीं नासिका में रहने वाली नाड़ी को चंद्र नाड़ी और दाहिनी नासिका में रहने वाली नाड़ी को सूर्य नाड़ी तथा मध्य की सुषुम्ना को अग्नि नाड़ी कहते हैं। मनुष्य के शरीर में इन तीनों नाड़ियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सत्य तो यह है कि मानव का सम्पूर्ण शरीर ही नाड़ी–जालों से बुना हुआ एक वस्त्र के समान है, इसका वर्णन ऋग्वेद संहिता में भी इसी रूप में किया गया है। उपनिषदों में इसका वर्णन करते हुए बताया गया है कि यह मनुष्य शरीर ७२ करोड़ नाड़ियों से बना हुआ एक वस्त्र है जिसे आत्मा ने धारण कर रखा है। गीता में भी भगवान् ने शरीर को वस्त्र के रूप में

ही वर्णन किया है और प्रभु का कथन है कि जैसे व्यक्ति पुराने वस्त्र को उतार कर नए वस्त्र को धारण करता है उसी प्रकार से यह जीवात्मा इस शरीर रूपी वस्त्र को त्याग कर नए शरीर रूपी वस्त्र को ग्रहण करती है। सारांश यह कि यह मानवं शरीर नाड़ी–जालों का ही समूह है।

इस शरीर में दो प्रकार की नाड़िया हैं। एक को रक्तवाहिनी कहते हैं और दूसरी को ज्ञानवाहिनी और ये दोनों ही साथ–साथ रहती हैं। रक्तवाहिनी नाड़ी प्राण के सहारे चलती है और ज्ञानवाहिनी नाड़ी चेतना के सहारे। उपनिषद् कहती है कि शरीर के शिरोभाग मूर्धा में ब्रह्मचक्र का स्थान है। इसी ब्रह्मचक्र में परम चैतन्यघन की ज्योति प्रकाशित हो रही है। चेतन के प्रकाश में ही चित्त में चेतना का आविर्भाव तथा उससे अहं का स्फुरण होता है। चेतना के साथ ही चित्त से दो प्रकार की क्रियाएँ प्रारम्भ हो जाती हैं जिसे गीता में ब्रह्म और कर्म कहा है। ब्रह्म बोध है और कर्म गति। बोध की अभिव्यक्ति विचार और संकल्प के रूप में होती है तथा कर्म की अभिव्यक्ति श्वास–प्रश्वास के रूप में। योगशास्त्र का यह कथन है कि प्राण और मन, ये दोनों एक ही अक्षर तत्त्व से उत्पन्न होते हैं। यदि उस अक्षर तत्त्व तक पहुंचना है और उसे जानना है तो उन दोनों का योग होना परम आवश्यक है। हठयोग की प्रक्रिया में प्राण के नियमन से मन के नियमन की विधि बताई गई है और राजयोग की प्रक्रिया में मन के नियमन से प्राण के नियमन की व्यवस्था है। योगशिखोपनिषद् में मंत्रयोग, हठयोग, लययोग तथा राजयोग की विधियों का उल्लेख है और इन चारों प्रकार के योगों का एक साथ अभ्यास करने को महायोग कहा गया है। मेरे विचार से साधक को इन चारों प्रकार के साधनों का साथ–साथ अभ्यास करना चाहिए। अनुभवी गुरु के निर्देश और संरक्षण में रहता हुआ साधक यदि महायोग का अभ्यास करे तो उसकी सफलता में संदेह के लिए स्थान नहीं। किसी भी प्रकार की साधना का अभ्यास करने वाले साधक के लिए हठयोग परम सहायक होता है। जैसा कि मैंने संकेत किया है कि यह शरीर ७२ करोड़ नाड़ियों का समूह है, उनमें १० नाड़ियाँ प्रमुख कही जाती हैं, जिनका नाम है – इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, गांधारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्वनी, अलम्बुसा, कुहू और शंखिनी। इनमें से इड़ा नाड़ी बायीं नासिका में, पिंगला दाहिनी नासिका में, सुषुम्ना मध्य में विराजित है; इस विषय में मैं पहले बता चुका हूँ। गांधारी बाएं नेत्र में, हस्तिजिह्वा दाएं नेत्र में, पूषा दक्षिण कान में, यशस्वनी बाएं

कान में, अलम्बुसा मुख में, कुहू जननेन्द्रिय के मूल में और शंखिनी गुदा में। ये दस दरवाज़े हैं शरीर में और दसों दरवाज़ों में ये दस नाड़ियां स्थित हैं। योगशिखोपनिषद् का कथन है–

दशद्वारपुरं देहं दशनाड़ीमहापथम्।
दशभिर्वायुभिव्याप्तं दशेन्द्रियपरिच्छदम्।।

(१/१६५)

अभिप्राय यह कि यह दस द्वार वाला शरीर दस प्रधान नाड़ियों से युक्त है। यही दस नाड़ियां इसके दस मार्ग हैं। यह दस प्रकार की वायु से व्याप्त है और दस इन्द्रियों से युक्त है। पांच प्राण तथा पांच उप प्राण, यही दस प्रकार की वायु है। प्राणवायु के पांच भेद हैं। नासिका छिद्रों से हृदयप्रदेश तक आने वाली वायु को प्राण कहते हैं। हृदय से नाभि प्रदेश तक रहने वाली वायु को समान कहते हैं। नाभि से नीचे अधो इन्द्रियों के मूल से लेकर अंगूठे तक व्याप्त वायु को अपान कहते हैं। कंठ से लेकर मूर्धा तक रहने वाली वायु को उदान कहते हैं और सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर जो रक्तवाहिनी नाड़ियों द्वारा शरीर में रक्त का संचार कर रही है, उसे व्यान वायु कहते हैं। इस प्रकार प्राण, समान, अपान, उदान, और व्यान, ये प्राणवायु के पांच भेद हैं। इसके साथ ही पांच उप प्राण हैं जिनका नाम है– नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय। इनके भी अलग–अलग कार्य हैं, जैसे नाग वायु के द्वारा उद्‌गार (डकार) आता है, कूर्म वायु के द्वारा नेत्रों, पलकों का उठना–झपकना होता है, कृकल वायु के द्वारा छींक आती है, देवदत्त वायु द्वारा जंभाई आती है। मृत शरीर को भी जो कुछ काल तक एक रूप में बांधे रहता है वह धनंजय वायु का कार्य है। ये दस प्रकार की वायु दसों द्वार वाले शरीर को व्याप्त किए हुए है। इसमें पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां हैं जिनके द्वारा शरीर का सारा कार्य सम्पन्न होता है।

चेतन की उपस्थिति में संपूर्ण शरीर के क्रिया–कलाप को सम्पादित करने वाली प्राण शक्ति ही है, यह प्राण शक्ति ही कार्य ब्रह्म है। हठयोग का यह सिद्धान्त है कि यदि प्राण का भली प्रकार नियमन कर लिया जाए तो शरीर वा इन्द्रियां तथा मन सभी का नियमन हो जाएगा। इसलिए प्राणायाम के द्वारा प्राण की साधना ही हठयोग का मूल स्वरूप है। योग की भाषा में दाहिनी नासिका में रहने वाली सूर्य नाड़ी को 'ह' कहा जाता है और वाम नासिका में रहने वाली चन्द्र

नाड़ी को 'ठ' कहा जाता है, इन दोनों नाड़ियों में प्रवाहित होने वाले प्राण को संयमित करते हुए सम अवस्था में लाकर मध्य नाड़ी सुषुम्ना में प्रवेश करा कर उसके द्वारा मूर्धा में प्राण को ले जाकर स्थापित करने का नाम ही हठयोग है। सरल शब्दों में ह और ठ का योग ही हठयोग कहा जाता है। इस हठयोग की सिद्धि के लिए सर्वप्रथम शरीरशोधन फिर नाड़ीशोधन की आवश्यकता होती है। अशुद्ध शरीर और दूषित नाड़ी द्वारा हठयोग का अभ्यास नहीं किया जा सकता। इसीलिए हठयोगी के लिए मिताहार के साथ सात्त्विक आहार की आवश्यकता बताई गई है और साथ ही आसन, मुद्रा, बंध और षट्कर्म आदि का अभ्यास भी आवश्यक बताया गया है। जिज्ञासु साधकों की जानकारी के लिए मैं संक्षेप से उन सभी आवश्यक साधनों के विषय में कुछ बता देना आवश्यक समझता हूँ। मैं यहां पर उन्हीं साधनों की अधिकारपूर्वक चर्चा करूंगा जिनका मैंने स्वयं अभ्यास किया है।

सर्वप्रथम साधक के लिए सात्त्विक और मित–आहार आवश्यक है। हठयोग के साधकों को नमक, मिर्च, खटाई, कसैले आदि पदार्थों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। योग चूड़ामण्युनिषद् में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि –

कट्वम्ल लवण त्यागी क्षीरभोजनमाचरेत्।

(१/४१)

योगाभ्यासियों के लिए दूध का सेवन उत्तम आहार बताया है। मिताहार किसे कहते हैं ? इस सम्बन्ध में उपनिषद् कहती है–

सुस्निग्ध–मधुराहारश्चतुर्थांश विवर्जितः।
भुंजते शिव संप्रीत्या मिताहारी स उच्यते।।

(१/४३)

भूख से चतुर्थांश कम खाना यह मिताहार है और जो कुछ खाया जाए वह भगवान् को समर्पित करके प्रसाद रूप में खाया जाए, यह मिताहार की विशिष्टता है। युवा व्यक्ति के लिए एक किलो दूध एक बार गाय का उसका पूरा आहार बताया गया है। योगी को उसका चौथा हिस्सा कम अर्थात् ७५० ग्राम एक बार दूध लेना पर्याप्त होगा। दूध के साथ चीनी और छः माशे सोंठ का चूर्ण लेना हितकर है। यदि केवल दूध पर साधक न रह सके तो वह दूध में चावल, गेहूं, वा जौं का दलिया बना कर ले सकता है। योगी के लिए दूध, घी, गेहूं, चावल,

मूंग और जौं यही पदार्थ ग्रहणीय बताए गए हैं। साधक को योगसाधना में विघ्न उपस्थित करने वाली वस्तुओं और व्यक्तियों का त्याग कर देना चाहिए। योगतत्त्वोपनिषद् में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि –

योगविघ्नकराहारं वर्जयेद्योगवित्तमः।
लवणं सर्षपं चाम्लमुष्णं रूक्षं च तीक्ष्णकम्।।
शाकजातं रामठादि वह्नि स्त्री पथ सेवनम्।
प्रातःस्नानोपवासादिकायक्लेशांश्च वर्जयेत्।।
अभ्यास काले प्रथमं शस्तं क्षीराज्यभोजनम्।
गोधूममुद्रशाल्यत्रं योगवृद्धि करं विदुः।।

इस उपनिषद् में यह बात स्पष्ट रूप से कही गई है कि नमक, सरसों, अम्ल पदार्थ जैसे खट्टाई, आमचूर, कांजी आदि; अत्यन्त उष्ण जैसे चाय, काफी आदि रूखा और तीक्ष्ण जैसे प्याज़, मिर्च आदि सब प्रकार का साग, हींग, तली हुई चीज़ें, अग्नि, पुरुष के लिए स्त्री और स्त्री के लिए पुरुष तथा अधिक मार्ग का चलना जैसे प्रातःकाल लोग मील दो मील सैर करते हैं, यह योगी लिए वर्जित है। साथ में प्रातःस्नान तथा निराहार उपवास और किसी प्रकार का शरीर को क्लेश पहुँचाने वाला कार्य योगाभ्यासी को नहीं करना चाहिए। अभ्यास काल में दूध, घी, गेहूं, मूंग, चावल, जौं आदि पदार्थ ही योगाभ्यास में वृद्धि करने वाले हैं, इन्हीं का सेवन करना चाहिए। मैं अपने अभ्यासकाल में लगभग पांच वर्षो तक केवल दूध का तथा कभी–कभी फल का भी सेवन करता रहा हूँ किन्तु विशेष अभ्यास की अवस्था में तीन बार दूध लेता रहा हूँ और यह मेरे लिए यथेष्ट रहा है। योगाभ्यासी के लिए समुचित आहार आवश्यक है, उसे भूखे कभी नहीं रहना चाहिए। कम से कम छः माशे सोंठ का चूर्ण दूध के साथ अवश्य लेते रहना चाहिए। यदि अभ्यास काल में खीर का सेवन करे तो शक्तिप्रद होगा, उसके साथ घी लेना भी आवश्यक है अन्यथा अन्तर में खुश्की हो जाती है। प्रातःकाल शौचादि से निवृत्त हो सर्वप्रथम नेति और कुंजल करना चाहिए। इससे उदर, कंठ और नासिका छिद्रों का मल साफ हो जाता है। नेति और कुंजल करने वाले जल में सेंधा नमक का प्रयोग करना चाहिए। यदि संभव हो तो सप्ताह में एक या दो दिन धौति और बसति क्रिया भी करनी चाहिए। धौति से नाभि से ऊपरी भाग का और बसति से नाभि के नीचे के भाग की शुद्धि हो जाती है। नेति, कुंजल, धौति और बसति क्रियाएं किसी योगी

के सान्निध्य में रह कर ही सीखनी चाहिए, पुस्तक पढ़ कर नहीं करना चाहिए। इन क्रियाओं के पश्चात फिर कुछ आसन करने चाहिए। इससे शरीर में ऋजुता वा लचक आती है। रक्तवाहिनी नाड़ियां शुद्ध होती हैं, शरीर में कोमलता आती है इसके साथ ही सूक्ष्म शरीर भी शुद्ध और कोमल हो जाता है। आसन के अनेकों भेद हैं– उनमें से कुछ खड़े होकर, कुछ बैठ कर, कुछ लेटकर किए जाने वाले आसनों का अभ्यास करना चाहिए। आसन इतने न करें कि शरीर थक जाए। यह याद रखना चाहिए कि आसन का अभ्यास ही योग साधना नहीं है, योगाभ्यास की सीढ़ियों में आसन प्रथम सीढ़ी है। कुछ आसन करने के पश्चात् साधक को अभ्यास में बैठने के लिए एक निशचित आसन को साध लेना चाहिए। पद्मासन, सिद्धासन, भद्रासन और स्वस्तिक आसन–यही चार आसन अभ्यास में उपयोगी हैं। इनमें से किसी एक आसन पर बैठ दीर्घकाल तक बैठने का अभ्यास कर लेना ही आसन को साधना है। प्रारम्भ में कम से कम एक आसन से एक घंटे तक बैठने का अभ्यास करना चाहिएं, फिर धीरे–धीरे इसे बढ़ा कर तीन घंटे तक ले जाना चाहिए। आसन में बैठने पर कमर सीधी हो, शरीर ढीला हो, मन तनावरहित हो, शान्त चित्त हो आसन से बैठना चाहिए। बैठने का स्थान स्वच्छ और शुद्ध हो, लकड़ी की चौकी अधिक से अधिक नौ इंच ऊंची हो, उसके ऊपर कुशा बिछा कर, यदि कुशा उपलब्ध न हो तो ऊन का वस्त्र बिछा ले, फिर रुईदार पतली गद्दी, उसके ऊपर यदि मृगचर्म हो तो वह भी बिछाया जा सकता है अन्यथा चादर बिछा कर उस पर बैठना चाहिए। अभिप्राय यह कि बैठने पर पांव में किसी प्रकार की चुभन वा असुविधा न हो, तभी साधक अधिक से अधिक देर तक बैठ पाता है।

प्रशान्त हो आसन पर बैठकर सर्वप्रथम अपने गुरुदेव का ध्यान कर उनको प्रणाम करे फिर अपने इष्ट का चिन्तन कर उन्हें प्रणाम करे, फिर पराशक्ति को प्रणाम कर उससे उत्पन्न हुए पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, मन, अहं और बुद्धि का चिन्तन करते हुए इन तत्त्वों के अंशभूत से उत्पन्न हुए अपने–स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर का चिन्तन करे। अनन्त आकाश में पृथ्वी और पृथ्वी के ऊपर अपने शरीर को देखे। अनन्त आकाश परमात्मा की दिव्य शक्ति से भरा हुआ है, ऐसा चिन्तन करे। परमात्मा की शक्ति ही ऊर्जा के रूप में आकाश में परिपूर्ण है। वही प्राणवायु के रूप में नासिका छिद्रों द्वारा हमारे शरीर में प्रविष्ट होकर इसे जीवित रखे हुए है। इस सत्य को समझ कर साधक हठयोग का अभ्यास प्रारम्भ

करे। शुद्ध और संयमित आहार तथा आसनों के अभ्यास से शरीर का मल दूर हो जाता है, इससे शरीर हठयोग की साधना के लिए सक्षम हो जाता है। इसके पश्चात प्राणायाम का अभ्यास प्रारम्भ करना चाहिए। प्राणायाम की अनेक विधियां हैं, उनमें से साधक को सर्वप्रथम नाड़ी–शोधन प्राणायाम करना चाहिए। समुचित रूप से नाड़ी–शोधन प्राणायम का तीन महीने तक किया गया अभ्यास शरीर की समस्त नाड़ियों को शुद्ध कर देता है। इस अभ्यास में सर्वप्रथम भस्त्रिका–प्राणायाम करना चाहिए। इसमें पहले उदर और फेफड़ों में रहने वाली वायु को धीरे–धीरे पूर्णतया बाहर निकाल देना चाहिए और फिर उसे अन्दर लेते हुए पूर्णतया भर लेना चाहिए लेकिन वायु को न तो अन्दर ही रोकना है और न बाहर ही; इस क्रिया को अपनी शक्ति अनुसार कुछ मिनट तक करते रहना चाहिए। इस सम्बन्ध में महर्षि पतंजलि का कथन है –

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य।

(यो०सू० १/३४)

प्रच्छर्दन माने पूर्णरूप से श्वास को बाहर निकालना, विधारण माने उसे अन्दर लेना, इस प्रकार से भस्त्रिका का किया हुआ अभ्यास साधक के चित्त का मल नष्ट कर देता है। भस्त्रिका के पश्चात नाड़ी–शोधन करना चाहिए। इस प्राणायाम में सर्वप्रथम श्वास को बाहर निकाल कर रोक दे फिर दाहिने हाथ के अंगूठे से दाहिनी नासिका के छिद्र को बंद करके गायत्री मंत्र का चिन्तन करते हुए बायीं नासिका से वायु को अन्दर भर लेना चाहिए। फिर अन्दर थोड़े समय तक रोक कर दाहिने हाथ की बीच की दो अंगुलियों से बायीं नासिका को भी बन्द कर देना चाहिए। जब ऊब होने लगे तो दाहिनी नासिका से अंगूठे को हटा कर उदर तथा फेफड़ों में भरी हुई वायु को दाहिनी नासिका से निकाल देना चाहिए। वायु को बाहर निकाल कर थोड़ी देर बाहर ही रोके रखना चाहिए फिर सामान्य स्थिति में हो कर इसी प्रकार का अभ्यास दोहराना चाहिए किन्तु इसमें श्वास को बाहर निकालना, रोकना और दाहिने हाथ के मध्य की दोनों अंगुलियों से बायीं नासिका को बंद करके दाहिनी नासिका से श्वास को अन्दर लेना चाहिए। उदर और फेफड़ों को भर कर अंगूठे से दाहिनी नासिका को बंद कर लेना चाहिए और जब ऊब होने लगे तो बायीं नासिका से अंगुलियों को हटाकर श्वास को बाहर निकाल देना चाहिए। इस प्रकार से यह एक प्राणायाम पूरा होता है। इस प्राणागय

में श्वास को अन्दर लेने, रोकने और बाहर निकालने में मात्रा का ध्यान रखना परमावश्यक है। मात्रा को गायत्री मंत्र के मानसिक जप द्वारा व्यवस्थित किया जा सकता है।

उपनिषदों में दो विधियां बताई गई हैं– एक गायत्री जप की और दूसरी प्रणव के जप की। मेरे विचार से गायत्री जप की विधि अधिक उपयोगी और सुगम है। साधक एक बार गायत्री का जप करते हुए श्वास को अन्दर भरे, श्वास को अन्दर रोककर चार बारं गायत्री का जप करे और फिर धीरे–धीरे दो बार गायत्री का जप करते हुए श्वास को बाहर निकाले। इस मात्रा को अभ्यास के साथ बढ़ाया भी जा सकता है। इस प्रकार से प्रातः काल दस प्राणायाम करना चाहिए। यह याद रहे कि प्रथम बार बाई नासिका से भर कर दाई से निकालना है और फिर दूसरी बार दाई नासिका से भर कर बाई से निकालना है, यह एक प्राणायाम पूरा होता है। इस एक बार प्राणायाम के साथ १४ बार गायत्री का जप हो जाता और इस प्रकार १० प्राणायाम करने पर एक सौ चालीस बार गायत्री जप होता है। इस प्राणायाम के पश्चात साधक को शान्त होकर ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। प्राणायाम की दस आवृत्ति यदि प्रारम्भ में करना कठिन हो तो पांच से प्रारम्भ करना चाहिए, फिर धीरे–२ इसे बढ़ाना चाहिए। अभ्यासी प्रातः सूर्योदय से पूर्व, मध्यान्ह में और सायंकाल गोधूलि वेला में तथा मध्य रात्रि में इस प्रकार चार बार अभ्यास करना चाहिए। यदि मध्य रात्रि में न कर सके तो तीन बार अवश्य करना चाहिए। प्राणायाम के अभ्यास से शरीर में कुछ विशेष परिवर्तन होने लगता है। शरीर बहुत हल्का और कोमल हो जाता है, हृदय शुद्ध और उदार होता है। करुणा, दया, क्षमा, परहित आदि भावों का उ़दय होता है। ऐसी स्थिति में साधक को बहुत ही सावधानी बर्तनी होती है। शरीर में सौन्दर्य और ओज की भी वृद्धि होती है, इससे वह आकर्षण का केन्द्र बन जाता है। सावधान न रहने पर साधना से च्युत होने का खतरा भी बढ़ जाता है। प्राणायाम के साथ शरीर में पसीना भी बहुत होता है। पसीने को वस्त्र से नहीं पोछना चाहिए, उसे शरीर पर ही मल कर सुखा देना चाहिए। बाद में शरीर में कम्पन भी होने लगता है, इससे साधक को घबराना नहीं चाहिए। अधिक अभ्यास करने पर प्राणवायु से शरीर भर जाता है फिर साधक का शरीर आसन से उठने लगता है और भी कई प्रकार की अद्‌भुत घटनाएं घटित होती हैं किन्तु साधक को चाहिए कि वह इन घटनाओं को कभी भी किसी से न

कहे और न ही इन पर विशेष ध्याद दे। प्राणायाम के समय तीनों बंधों का अभ्यास करना ही आवश्यक है। मूल बंध, उड्डयान बंध और जालन्धर बंध– ये तीनों बंध प्राणायाम की वृद्धि में परम सहायक होते हैं। इन बंधों के अभ्यास से कुंडलिनी शक्ति के जागरण में भी सहायता मिलती है। अपने अभ्यास किए हुए आसन से बैठकर गुदा और मेद्र को ऊपर खीचें रहना मूलबंध कहा जाता है। इस बंध को सिद्ध करने के लिए पहले अश्वनी मुद्रा का अभ्यास किया जाता है। इससे नीचे के दोनों अधोद्वार अर्थात् मल–मूत्र के द्वार बंद हो जाते हैं और अपान वायु की ऊर्ध्व गति होती है। मूलबंध के साथ ही उड्डयान बंध भी लगाना चाहिए। फेफड़े और उदर में वायु भर कर फिर नाभि के नीचे का भाग सिकोड़ते हुए पीठ की तरफ ले जाए, अभ्यास करे कि अगला भाग पीठ से लग जाय। उस स्थिति में भरी हुई वायु फेफड़े और पाश्वभाग में पूरित हो जाती है, इससे समान वायु की ऊर्ध्वगति होती है, जठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है। उड्डयान के साथ ही गर्दन को झुका कर ठोढ़ी को कंठकूप में स्थापित कर देना चाहिए, इसका नाम जालंधर बंध है। पूरक करने के पश्चात कुम्भक के साथ ही मूल, उड्डयान और जालन्धर, ये तीनों बंध साथ–साथ ही लगा लेने चाहिए लेकिन सावधान रहना चाहिए। प्राण को अन्दर अधिक देर तक रोकने के लिए जोर नहीं लगाना है। सहज रूप में आराम से जितनी देर तक प्राणवायु अन्दर रोकी जा सके उतना ही रोकना चाहिए, धीरे–२ इसकी मात्रा स्वतः बढ़ जाती है। योग की भाषा में श्वास को अन्दर भरने को पूरक कहते हैं और अन्दर रोकने को कुम्भक तथा बाहर निकालने को रेचक कहते हैं। यह पूरक, कुम्भक और रेचक रूप में प्राणायाम की क्रिया सम्पन्न होती है। प्राण के नियमन के लिए कुम्भक का अभ्यास ही प्रमुख है।

आगे कुम्भक के दो भेद हो जाते हैं अन्तर–कुम्भक और बाह्य–कुम्भक। श्वास को भर कर अन्दर रोकने का अभ्यास अन्तर–कुम्भक कहा जाता है और श्वास को बाहर रोके रखने के अभ्यास को बाह्य–कुम्भक कहते हैं। इस प्रकार प्राणायाम का अभ्यास करने से प्राण पूर्णतया सूक्ष्म हो जाता है और वह सम होकर सुषुम्ना में प्रवेश करने लगता है। सुषुम्ना मार्ग से प्राण जब मूर्धा में प्रवेश करता है तो वह हठयोग की समाधि कही जाती है। सौभाग्यशाली साधक ही जीवन का सार्थक बनाने वाली इस समाधि का भाजन बन पाता है। इस अभ्यास में शुद्ध अहार–विहार, व्यवहार, आचार और विचार, ये सभी परम आवश्यक हैं। शेष समय

में साधक को प्रणव के जाप का अभ्यास करना चाहिए। परमात्मा के प्रिय स्वरूप का चिन्तन और प्रणव का जप साधक को साधना में आने वाले विघ्न–बाधाओं से सुरक्षित रखता है। गुरु–कृपा और प्रभु–कृपा, इन दोनों के प्रकाश में ही साधक को साधना में सफलता प्राप्त होती है। हठयोग की साधना में अनेक प्रकार की सिद्धियों का प्रलोभन साधक को पथच्युत करने में हेतु बन जाता है अतः अभ्यासी को उससे सावधान रहना चाहिए। साधक के शरीर में सौष्टव, सौन्दर्य तथा विशेष प्रकार की सुगन्ध का आविर्भाव होता है, जिससे विजातीय लिंगों का एक दूसरे के प्रति आकर्षण प्रबल हो जाता है। यदि साधक सावधान नहीं है चाहे वह पुरुष हो वा स्त्री उसे अपने मार्ग से च्युत होने की संभावना बनी रहती है; इसीलिए अभ्यासी को सद्‌गुरु के सरंक्षण में रहते हुए तथा प्रभु का सतत सुमिरन करते हुए ही अभ्यास करना चाहिए।

हठयोग की सिद्धि प्राण का सूक्ष्म होकर सुषुम्ना मार्ग से मूर्धा में प्रवेश कर स्थिर हो जाना है किन्तु इतने से ही परम मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो पाती; यह परम पद की प्राप्ति में परम सहायक अवश्य होता है किन्तु परम पद को प्रदान करना इसकी सीमा से परे की बात है। इसीलिए शास्त्रकारों ने यह कहा है कि योग के साथ ज्ञान का होना परम आवश्यक है। ज्ञान के अभाव में हठयोग का अभ्यास अनेक सिद्धियों के माध्यम से अलौकिक सुख तथा कीर्ति प्रदान कर सकता है किन्तु परम गति नहीं। गीता में भी भगवान् ने इस तथ्य को समझाते हुए कहा है–

> **सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।**
> **मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्।।**
> **ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।**
> **यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।**
>
> **(गीता ८/१२–१३)**

सम्पूर्ण इन्द्रियों के द्वारों को निरुद्ध करके प्राण को ऊर्ध्वमुखी करता हुआ अभ्यास द्वारा उसे मूर्धा में ले जाकर स्थापित कर दे और प्रशान्त हो कर बैठ जाय। चित्त में किसी भी प्रकार की स्फुरणा न हो, यह स्थिति हठयोग के अभ्यास के बिना प्राप्त नहीं हो सकती। हठयोग की साधना के बिना प्राण को मूर्धा में प्रतिष्ठित करने का कार्य कठिन ही नहीं सर्वथा असम्भव है। योगधारणा के साथ ही परम गति को प्राप्त

करने के लिए दूसरे श्लोक में मंत्रयोग और राजयोग का उपदेश दिया है। ॐ इस एक अक्षर का जाप और उसके अर्थ रूप परमेश्वर के स्वरूप का चिन्तन करते हुए जो इस शरीर का त्याग करता है वही परम गति को प्राप्त होता है। यहां हठयोग के साथ ही ध्यानयोग तथा ज्ञानयोग का उपदेश दिया है। इसी बात को योगशिखोपनिषद् में भगवान् शंकर ने कहा है–

योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीह भोः।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि।।

(१/३)

योगाभ्यास के बिना केवल शास्त्रज्ञान मोक्ष प्रदाता नहीं होता और तत्त्वज्ञान के बिना योगाभ्यास भी मोक्ष प्रदान करने में सक्षम नहीं इसलिए–

तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुदृढमभ्यसेत्।
ज्ञानस्वरूपमेवादौ ज्ञेयं ज्ञानैक साधनम्।।

(१/४)

मुमुक्षु को चाहिए कि वह ज्ञान और योग का एक साथ अभ्यास करे। यथार्थतः ज्ञेय तत्त्व को जानने के लिए केवल एक मात्र ज्ञान ही समुचित साधन है। गोस्वामी जी ने भी रामचरितमानस में तत्त्वज्ञान की प्राप्ति में योग को ही एकमात्र साधन बताया है और तत्त्वज्ञान के प्रकाश में ही परम अर्थ रूपी मोक्ष की सिद्धि बताई है। उनका कथन है –

धरम ते बिरति जोग ते ग्याना। ग्यान मोक्षप्रद बेद बखाना।।

धर्मानुष्ठान से साधक में वैराग्य दृढ़ होता है। दृढ़ वैराग्य ही योग की सिद्धि में हेतु बनता है। योग द्वारा शुद्ध हुआ चित्त परम चैतन्य के यथार्थ स्वरूप का अनुभव कराने में सक्षम होता है और सच्चिदानंद प्रभु के यथार्थ स्वरूप का बोध ही परम पुरुष रूपी मोक्ष का स्वरूप है।

सारांश यह कि हठयोग के साथ ही अभ्यासी को मंत्रयोग, लययोग तथा राजयोग का भी अभ्यास करना चाहिए। इसी से वह अपने जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल हो सकेगा। केवल हठयोग का अभ्यास साधक को परमतत्त्व का बोध प्रदान नहीं कर पाता। मैंने कई एक ऐसे हठयोग के अभ्यासियों को देखा है जो अपने चमत्कारपूर्ण हठयोग की साधना के परिणाम में केवल अहंकार को ही पुष्ट कर पाए हैं। तत्त्वज्ञान तो बहुत दूर की बात रही सामान्य

ज्ञान से भी उनका जीवन शून्य रहा है। हठयोग के कई ऐसे अभ्यासी हैं जो भूमि में गड्ढा खोदकर स्वयं उसमें बैठ जाते हैं और ऊपर से उसे पूर्णतया बंद कर देते हैं। एक–दो दिन नहीं सप्ताह तक अपने श्वास को रोककर उस गड्ढे में पड़े रहते हैं, वर्तमान में डाक्टर अपने यंत्रों के माध्यम से उनके शरीर का परीक्षण करते हुए उन्हें मृत घोषित कर देते हैं किन्तु सप्ताह बाद वे शरीर में पुनः प्राण का संचार करके बाहर आ जाते हैं। किन्तु वे हठयोग के अभ्यासी इस प्रकार के चमत्कार केवल धन अर्जन के लिए ही जगह–जगह पर किया करते हैं, तत्त्वज्ञान से उनका दूर का भी सम्बन्ध नहीं होता। अभिप्राय यह कि हठयोग का समुचित प्रयोग लययोग व राजयोग की भूमिका रूप में है। यह धारणा, ध्यान और समाधि के अभ्यास में परमोपयोगी साधन है अतः मुमुक्षु को चाहिए कि वह हठयोग के परिणाम घटित होने वाले चमत्कारों से विरत हो कर लययोग वा राजयोग का अभ्यास करे। शरीर की शुद्धि, इन्द्रियों की सिद्धि, मन की एकाग्रता, ये सभी हठयोग से सिद्ध हो जाते हैं। आगे सद्‌गुरु के निर्देशानुसार विशुद्ध बुद्धि के प्रकाश में परम चैतन्यघन परमात्मा का ध्यान और अपने सीमित अहं को उस सच्चिदानंद परमेश्वर में समर्पित कर उनसे अभिन्नता की अनुभूति का अभ्यास करे। इस अभ्यास की सिद्धि से ही वह परमपद का अधिकारी हो सकेगा अन्यथा नहीं। हठयोग की साधना की इसी में सार्थकता है।

साधकों के लिए विशेष निर्देश

(१) साधक को चाहिए कि वह कुछ दिनों के लिए नियम ले कर विशेष अभ्यास का अनुष्ठान करे। विशेषकर तीन महीने का अनुष्ठान शरीर–इन्द्रिय शुद्धि तथा मनोनिग्रह के लिए परमोपयोगी होता है जिसमें गोदुग्ध वा खीर का ही आहार करना चाहिए, साथ में सोंठ का सेवन करना, जिससे शरीर में वायु विकार न हो। अभ्यासी को गोदुग्ध का प्रयोग करना चाहिए, भैंस के दूध का नहीं क्योंकि उससे वायुविकार हो जाता है।

(२) आहार में गेहूं वा जौं की दलिया, चावल, मूंग का प्रयोग किया जा सकता है। मौसम के अनुसार फल का भी सेवन उपयोगी है।

(३) आसन–प्राणायाम के साथ बंध तथा मुद्राओं के प्रयोग से योग मार्ग में प्रगति होती है। महामुद्रा, योगमुद्रा, खेचरीमुद्रा, योनिमुद्रा, शाम्भवीमुद्रा तथा वैष्णवीमुद्रा और षड्मुखीमुद्रा, ये सभी मुद्राएं साधना में सहायक होती हैं।

(४) नेति, धौति, बसति, नौलि, त्राटक तथा कपालभाति, इनको षट्कर्म कहते हैं। अनुभवी के निर्देश में इनको सीख कर इनके प्रयोग से भी लाभ होता है।

(५) हठयोग की साधना में प्रधानता केवल प्राणायाम की है, अन्य क्रियाएं शरीर–शुद्धि तथा इन्द्रिय–संयम के साधन होने से उसमें सहायक सिद्ध होती हैं। साधक को बड़ी सावधानी से कम खाना, कम बोलने, कम लोगों से मिलने का निश्चय करके अभ्यास में प्रवृत्त होना चाहिए। मंत्रजाप और इष्ट उपासना इसमें परम सहायक होते हैं।

*❁**

पातंजल योगदर्शन में क्रियायोग

महर्षि पतंजलि द्वारा रचित योगदर्शन यथार्थतः अपने नाम के अनुकूल ही योगसिद्धि का दार्शनिक विश्लेषणात्मक ग्रन्थ है, इसमें योग तथा उससे सम्बन्धित समस्त अंगों, उपांगों का बुद्धिगम्य, दार्शनिक व वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि महर्षि पतंजलि ने 'योग' शब्द की व्याख्या में चित्तवृत्ति निरोध को ही प्रमुख स्थान दिया है, किन्तु इस दर्शन के मनन से ऐसा ज्ञात होता है कि वृत्ति निरोध के साथ ही कृतार्थावस्था में अथवा साधन की पूर्णावस्था में स्वयं चित्त का भी निरोध अथवा अपने कारण में लय हो जाता है, क्योंकि महर्षि के मतानुसार चित्तमुक्त चेतन ही कैवल्य पद को प्राप्त करता है। वृत्ति निरुद्ध होने पर ही चित्त शुद्ध और शान्त होता है। चित्त की शुद्ध शान्त अवस्था में ही चित्त का प्रकाशक पुरुष निज स्वरूप में अवस्थित हो पाता है। द्रष्टा पुरुष की स्वरूप में अवस्थिति ही योग की परम सिद्धि है। इसी को कैवल्य, निर्वाण वा मोक्ष कहते हैं। सांख्य शास्त्र की भाषा में द्रष्टा की स्वस्वरूप में अवस्थिति ही दुःख की अत्यन्त निवृत्ति का एकमात्र उपाय है; यही पुरुष का परम पुरुषार्थ है। इसके विपरीत स्थिति में चित्त का प्रकाशक पुरुष निज स्वरूप से च्युत हो चित्त में निरत हो जाता है और चित्त की वृत्तियों के साथ तादात्म्य करके उसके समस्त क्रियाकलापों को अपने में आरोपित करता हुआ विविध प्रकार के क्लेशों का भाजन बन जाता है। महर्षि के सिद्धान्तानुसार चित्त की पाँच प्रकार की वृत्तियां हैं – जिन्हें प्रमाण–विपर्यय–विकल्प–निद्रा और स्मृति के नाम से अभिहित किया गया है। इनमें से प्रमाण वृत्ति के तीन भेद हैं, जिनका प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम के नाम से वर्णन किया गया है। विपर्यय मिथ्या ज्ञान को कहते हैं। जो वस्तु जैसी है वैसा बोध न प्राप्त कर उसके विपरीत गुण–धर्म को उसमें स्वीकार कर लेना, यह विपर्यय वृत्ति का कार्य है। जिसमें शब्द के अर्थ का बोध होता हो किन्तु उसके अर्थ रूप वस्तु का सर्वथा अभाव हो–उसे विकल्प वृत्ति कहते हैं। जिस अवस्था में चित्तगत चेतना अपने बाह्य बोध से विमुक्त हो चित्त के आधार तमोगुण के

आश्रित हो अभाव की अनुभूति का अवलम्बन लेती है, उसे निद्रावृत्ति कहते हैं। अनुभूत विषय वा वस्तु की चित्त में अवस्थिति को स्मृति वृत्ति कहा जाता है। व्यक्ति के जीवन का समग्र व्यापार इन्हीं पांच प्रकार की वृत्तियों पर अवलम्बित है। वृत्ति शब्द भी योग का एक अपना पारिभाषिक शब्द है। सुगमता से उसे समझाने के लिए यों भी कहा जा सकता है कि अव्यक्त प्रकृति के प्रथम परिणाम रूप चित्त में स्वाभाविक क्षमता है कि वह चेतन के प्रकाश को स्वयं धारण कर उसके गुण–धर्म से युक्त हो जाये। अध्यात्म रामायण में भगवान् श्रीराम ने लक्ष्मण को समझाते हुये कहा है कि जैसे लौह पिण्ड में स्वाभाविक क्षमता है कि वह अग्नि के संसर्ग में जाते ही उसके गुण–धर्म–स्वभाव को स्वयं में धारण कर लेता है और वह लौह पिण्ड नहीं अपितु अग्नि पिण्ड के समान ही प्रतीत होने लगता है, ठीक उसी प्रकार चित्त की भी स्थिति है। वह चेतन के सान्निध्य में आते ही उसके गुण–धर्म–स्वभाव को स्वयं में धारण कर चेतनवत् ही प्रतीत होने लगता है। चेतन अभिभूत चित्त में चेतना का उदय होता है और उस चेतन में ही अहं की स्फुरणा होती है। अंग्रेजी में चित्तगत चेतना को ही सोल कहते हैं। अपनी भाषा में उसे जीवात्मा कहते हैं। इसमें चेतना तो चितिशक्ति का प्रकाश है किन्तु इस प्रकाश में सीमित भाव चित्त का धर्म है। उस चेतना में जितनी प्रकार की स्फुरणायें उठती हैं, उन सभी को चित्तवृत्ति नाम से अभिहित किया जाता है। यह चेतना बोधात्मक है, इसलिये सांख्यदर्शन इसे चित्त न कह कर बुद्धि शब्द से सम्बोधित करता है। उपनिषदों में इसे ही सत्त्व कहा गया है। चेतना में स्फुरित होने वाला अहं ही 'मम' का जनक है। इस मम वृत्ति को ही 'मन' कहते हैं। उस अहं से ही पांच ज्ञानेन्द्रियां, पंच कर्मेन्द्रियां और पांच तन्मात्राओं का आविर्भाव होता है। आगे पंच तन्मात्राओं का ही घनीभूत परिणाम पंच महाभूत हैं। सांख्य तथा योग दोनों दर्शनों का यही सिद्धान्त है। उपनिषदों में भी सृष्टि–प्रक्रिया में इसी प्रकार का वर्णन प्राप्त होता है। इतिहास और पुराण भी इसी का विस्तार से विवेचन करते हैं। जो गति और विकास व्यष्टि चित्त में चेतन के प्रकाश से सम्पन्न होती है वही समष्टि चित्त में परम चैतन्यघन के प्रकाश से भी घटित होती है। अन्तर केवल इतना ही है कि समष्टि चित्त का प्रकाशक परम चैतन्यघन चित्त में उत्पन्न होने वाले समस्त विकारों से सर्वथा असंग रहता है इसलिये उसे पुरुषविशेष तथा ईश्वर शब्द से अभिहित किया जाता है किन्तु व्यष्टिचित्त का प्रकाशक चिदांश पुरुष उसके साथ

तादात्म्य भाव को प्राप्त हो उसके विकारों में निरत–सा हो जाता है। गोस्वामी जी के शब्दों में–

मायाबस जीव अभिमानी। ईस बस माया गुण खाणी।।
परबस जीव स्वबस्स भगवन्ता। जीव अनेक एक श्रीकन्ता।।

यहां माया शब्द का अभिप्राय अव्यक्त प्रकृति से है। प्रकृति ही परिणाम को प्राप्त हो समष्टि चित्त के रूप में आविर्भूत होती है और वह पुरुषविशेष ईश्वर से प्रकाशित हो सर्ग–विसर्ग रूप जगत् का सृजन करती है। समष्टि चित्त रूप प्रकृति का शास्ता होने से ही वह चैतन्यघन ईश्वर कहा जाता है। ईश्वर प्रकृति का प्रकाशक होते हुये भी सर्वथा उससे असंग और अपरामृष्ट ही रहता है। किन्तु उसी ईश्वर का चिदांश जो व्यष्टिचित्त को प्रकाशित करता है, वह चित्त से उद्भूत उसके सम्पूर्ण विकारों के साथ तादात्म्य भाव स्वीकार करके उनके अधीन व परतन्त्र हो जाता है। इस परतन्त्रता में जीव की अल्पज्ञता ही कारण हुआ करती है। तत्त्वतः तो चित्त के साथ तादात्म्य भाव की प्रतीति होने पर भी चिदांश होने से पुरुष सर्वथा असंग एवं चित्त से परे ही रहता है, किन्तु इस यथार्थ का उसे बोध नहीं रहता। इस विपरीत प्रतीति को ही "विपर्यय वृत्ति" कहते हैं। यहीं से विकल्प, निद्रा, स्मृति आदि वृत्तियों का व्यापार प्रारम्भ हो जाता है। यह विपर्यय वृत्ति रजोऽभिभूत चित्त में ही स्फुरित होती है। आगे प्रवाह के रूप में तम के साथ सम्बन्ध होने पर अन्य वृत्तियों का भी उदय होता है। वही जीव के अनेकविध क्लेशों में कारण बनती हैं। इनके निराकरण के लिये प्रकाशस्वरूप सतोगुणी वृत्ति का अवलम्बन लेना ही एकमात्र उपाय है। सतोगुणी वृत्ति को ही प्रमाण वृत्ति कहते हैं। प्रमाण वृत्ति की प्रकृष्टता के लिये सत्त्व अथवा चित्त की शुद्धि परमावश्यक है। महर्षि पतंजलि ने इसके लिये क्रियायोग का उपदेश किया है। क्रियायोग के द्वारा ही चित्त तमोगुण तथा रजोगुण से रहित हो शुद्ध सतोगुण से युक्त हो सकता है। महर्षि का कथन है–अज्ञान, अहंकार, राग, द्वेष और भय रूप क्लेश को क्षीण करने के लिये तथा चित्त को शुद्ध और स्थिर बनाकर समाधि भावना की सिद्धि के लिये क्रियायोग का अवलम्बन ही श्रेष्ठतम उपाय है।

क्रियायोग के तीन अंग हैं–तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान। इनमें तप से तमोगुणजन्य मल का निरसन होता है, स्वाध्याय से रजोगुणजन्य विक्षेप का। ईश्वरप्राणिधान से चित्त पर पड़े हुये सूक्ष्मतम अविद्या रूपी आवरण का निराकरण

कर साधक को समाधि सिद्धि प्राप्त हो जाती है। यहाँ पर एक बात और भी याद रखनी है कि मानव का समस्त क्रिया–कलाप शरीर, वाणी और मन से ही सम्बन्धित होता है। शरीर की शुद्धि के लिये तप, वाणी की शुद्धि के लिये स्वाध्याय और मन की शुद्धि के लिये ईश्वर–उपासना वा प्रणिधान का विधान है। महर्षि पतंजलि ने समाधिपाद में अभ्यास–वैराग्य तथा ईश्वर प्राणिधान रूप जो दो प्रकार के साधन बताये हैं वे एकाग्रचित्त वाले उत्तम अधिकारी के लिये ही समझने चाहिये। क्योंकि एकाग्रचित व्यक्ति ही जगत् से विरत तथा आत्मनिरत होने का अभ्यास कर सकता है। एकग्रचित व्यक्ति ही जगत् के अन्य आश्रयों का त्याग कर पूर्णतया अनन्य भाव से सर्वेश्वर के आश्रित हो उनके दिव्य नाम का जाप एवं उसके अर्थरूप परमेश्वर का चिन्तन कर सकता है। चित्त की मूढ, क्षिप्त तथा विक्षिप्त अवस्थाओं में यह सम्भव नहीं है। चित्त की इन अवस्थाओं में रहने वाले व्यक्ति को तो क्रियायोग वा अष्टांगयोग का ही आश्रय ग्रहण करना होगा। उनमें भी जो चित्त की विक्षिप्तावस्था में रहने वाला साधक है उसके लिये क्रियायोग ही परमोपयोगी साधन है। भावप्रधान व्यक्ति प्रायः विक्षिप्तावस्था मे ही रहते हैं। उनके लिये तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान रूप क्रियायोग परमोत्तम साधन है। मूढ़ तथा क्षिप्त अवस्था में रहने वाला साधक भी इस क्रियायोग से स्वयं के मल तथा विक्षेप का निराकरण कर ईश्वरप्रणिधान की योग्यता प्राप्त कर सकता है, जो अविद्या के निरसन के साथ ही समाधि की प्राप्ति में एकमात्र श्रेष्ठतम उपाय है। सुखद पदार्थ एवं परिस्थिति का स्वेच्छा से त्याग, शरीर, इन्द्रिय तथा मन का नियमन ही तप कहा जाता है। जिन क्रियाओं से शरीर, इन्द्रिय, वाणी तथा मन की शुद्धि होती हो–गीता के १७ वें अध्याय में उन क्रियाओं को ही तप की संज्ञा दी गई है। भगवान् ने वहां पर शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक तप के साधनों का संक्षिप्त रूप से वर्णन किया है। देव, द्विज, गुरु और प्रज्ञावान महापुरुषों का पूजन, उनके प्रति आदरभाव, बाहर–भीतर की पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य का पालन तथा मन–वचन और कर्म से किसी भी प्राणी को दुःख न पहुंचाने का व्रत, यह शारीरिक तप है। दूसरों को उद्वेग न पहुंचाने वाला, सत्य, प्रिय एवं हितकर वचन, इष्ट मन्त्र का जाप एवं सत्शास्त्रों का अध्ययन, यह वाणी का तप कहा गया है। मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मननशीलता, स्थिरता, निग्रह, भाव की पवित्रता आदि मानसिक तप कहे गये हैं। तप का परिणाम बताते हुए महर्षि का कथन है– शरीर और इन्द्रियों की

सिद्धि तथा अशुद्धि का निराकरण वा क्षय तप का फल है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शरीर तथा मनसहित एकादश–इन्द्रियों का शुद्धिकरण एवं नियमन ही तप का प्रयोजन है और यह सर्वमान्य सत्य है कि जिसने शरीर और इंन्द्रियों को नहीं साधा है, जिसका मन संयमित नहीं है, वह कभी भी परमार्थ पथ का पथिक नहीं हो सकता। स्वाध्याय का अर्थ है गुरुप्रदत्त इष्टदेव के मन्त्र का जाप। इसका एक अर्थ शास्त्रों का अध्ययन तथा उसके प्रकाश में आत्मनिरीक्षण भी होता है। किन्तु महर्षि पतंजलि को यह अर्थ अभीष्ट नहीं लगता, क्योंकि स्वाध्याय की साधना का फल बताते हुये उन्होंने कहा है–

स्वाध्यायात् इष्ट देवता संप्रयोगः।

स्वाध्याय से इष्टदेव का साक्षात्कार होता है। गीता में भगवान् ने जिसे जपयज्ञ कहा है, उसी को यहाँ महर्षि ने स्वाध्याय शब्द से अभिहित किया है। सद्‌गुरु से प्राप्त किये हुये मन्त्र का विधिपूर्वक जाप करने से मन्त्र के देवता का साक्षात्कार हो जाता है; यह अनुभूत सत्य है। इष्टदेव के साक्षात्कार से चित्त काषायरहित अर्थात् शुद्ध हो जाता है। शुद्ध चित्त से ही आत्मानुभूति वा आत्मस्थिति प्राप्त होती है, जिसे समाधि शब्द से वर्णित किया गया है। स्वाध्याय की सिद्धि साधक को पूर्णतया परमेश्वर के प्रति समर्पित होने की क्षमता प्रदान करती है। यथार्थतः सम्यक् प्रकार से ईश्वर–समर्पण वा प्रणिधान तभी सिद्ध होता है। ईश्वरप्रणिधान का फल समाधि सिद्धि है, यह पहले भी बताया जा चुका है।

समाधि की विविध अवस्थाएं हैं। उन्हें मुख्यतः दो भागों में विभक्त किया गया है, जिसे सबीज समाधि और निर्बीज समाधि कहा जाता है। सबीज समाधि का ही दूसरा नाम संप्रज्ञात समाधि है और निर्बीज को असंप्रज्ञात समाधि कहते हैं। ईश्वरप्रणिधान के द्वारा प्रथम सम्प्रज्ञात तत्पश्चात् असंप्रज्ञात, दोनों प्रकार की समाधियां सिद्ध हो जाती हैं। सम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त हुआ योगी अपने व्यष्टि भाव को सुरक्षित रखता हुआ ब्रह्मादि लोकों में कल्पपर्यन्त निवास करता है, पश्चात् वह मोक्ष का भागी होता है। उपनिषदों में इन्हें क्रममुक्ति तथा सद्योमुक्ति के नाम से वर्णित किया गया है। क्रियायोग स्वयं में पूर्ण साधना है। सरल शब्दों में इसे यों भी कहा जा सकता है कि शरीर, वाणी और मन से होने वाले समस्त क्रिया–कलापों को गुरुओं के भी परम गुरु, ज्ञान के मूल स्रोत परमेश्वर के साथ एकत्व प्रदान करने वाली भावनाओं के साथ जोड़ना ही क्रियायोग है। प्राण, वाणी

तथा मन ही समस्त क्रियाओं के आधार हैं। सद्‌गुरु द्वारा प्राप्त विधि से इन तीनों ही क्रियाओं को ईश्वर के साथ जोड़ देने का नाम ही क्रियायोग है। यह योग साधक के क्लेश का क्षय करता हुआ उसमें समाधिभाव को सिद्ध करने में परम सहायक होता है। चित्त की किसी भी अवस्था में रहने वाला साधक किसी सद्‌गुरु की शरण ग्रहण कर क्रियायोग की साधना में दीक्षित हो, इसका अभ्यास कर लाभान्वित हो सकता है।

अहंग्रह उपासना

वैदिक विज्ञान में कर्म–उपासना तथा ज्ञान की त्रिवेणी का विवेचन है। कर्म के दो भेद हैं–सकाम और निष्काम। सकाम कर्म जीव के लिए लौकिक तथा पारलौकिक भोग की प्राप्ति में हेतु बनता है और निष्काम कर्म उसके सत्त्व की शुद्धि कर तत्त्व बोध की प्राप्ति की दिशा में प्रवृत्त होने के योग्य बनाता है। सत्त्व अर्थात् अन्तःकरण के शुद्ध होने पर ही जीव में इस जन्म–मृत्यु, जरा–व्याधि के भवार्णव से सदा के लिए विमुक्त होने की, दूसरे शब्दों में अत्यन्त दुःख निवृत्ति की लालसा जागृत होती है, उस स्थिति में वह सद्गुरु की शरण में जाकर ब्रह्मविद्या के श्रवण की जिज्ञासा व्यक्त करता है। श्रवण के साथ ही मनन और निदिध्यासन की पावन क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। विशुद्ध बुद्धि द्वारा किया हुआ श्रवण, मनन, निदिध्यासन यथार्थतः उपासना का सर्वोत्तम स्वरूप है। उपासना का एक नाम भक्ति भी है, उस प्रकार की भक्ति को वैधा–भक्ति कहते हैं। ब्रह्मविद्या ही तत्त्वतः ब्रह्मबोध का एकमात्र साधन है। उसके श्रवण से यह बोध होता है कि यह चराचर विश्व ब्रह्म का ही विवर्त अर्थात् विशिष्टाभिव्यक्ति है। जीव और जगत् दोनों रूपों में ब्रह्म का ही वैभव प्रकाशित हो रहा है। इस ब्रह्मविद्या के बोध से ही साधक स्वयं के स्वरूप में भी सच्चिदानन्द ब्रह्म के चिदांश को जान और समझ पाता है। अंश और अंशी की अभिन्नता का बोध पाकर वह स्वयं में निहाल हो जाता है। इस स्थिति में वह नानात्व की भ्रान्ति से विमुक्त हो अपने कारण स्वरूप सच्चिदानंद से युक्त होने का प्रयत्न प्रारम्भ कर देता है। इस प्रयत्न का ही तत्त्वद्रष्टा ऋषियों ने भक्ति वा उपासना के नाम से वर्णन किया है। देवर्षि नारद के विचार से जीव की अपने कारण व अंशी परमेश्वर में परम अनुरक्ति ही भक्ति है किन्तु महर्षि शांडिल्य इसी बात को दूसरे रूप में कथन करते हैं। उनका मत है – **आत्मरत्यविरोधे नेति शाण्डिल्य**–आत्मरति के अविरोधी तत्त्व में अनुराग होना ही भक्ति है। अभिप्राय यह कि जिन–जिन क्रियाओं, भावों से आत्मस्वरूप में अनुरक्ति होती हो, वही भक्ति है। भक्ति को ही उपासना कहते हैं, जिसका शाब्दिक अर्थ होता है अपने इष्टदेव के

समीप बैठना; जैसे एक प्रेमी अपने प्रियतम के सन्निकट बैठ कर उसके अपलक दर्शन से निहाल होता रहता है उसी प्रकार से जीव जब परमेश्वर के सन्निकट पहुंच कर उसके अनन्त गुण, उसकी अनन्त महिमा तथा उसके अपरिमित सौन्दर्य का अनुभव करता हुआ अनवरत उसी में निमग्न हो जाता है, वही उपासना वा भक्ति कही जाती है।

इस भक्ति वा उपासना के भी तीन भेद हैं। सम्पूर्ण जगत् तथा जीवों के नियन्ता परमेश्वर को अपने आराध्य स्वामी वा सेव्य के रूप में स्वीकार कर दास्यभाव से उनकी सेवा में सदैव निरत रहना, यह भक्ति का प्रथम स्वरूप है। वे सर्वाधार सर्वेश्वर चराचर जगत् के कारण हैं अतः मेरे जीवन के भी वही कारण हैं। मेरा व्यक्तित्व तथा अस्तित्व उन्हीं परमेश्वर की अंशाभिव्यक्ति है, मैं उनका अंश हूँ, वे मेरे अंशी हैं, मैं उनका पुत्र हूँ वे मेरे पिता हैं। जैसे सूर्य की किरण सदैव सूर्य से प्रकट होती है और सूर्य में ही स्थिर रहती है उसी प्रकार से मेरा यह जीवन मेरे परम सुहृद् परमेश्वर से है तथा परमेश्वर में ही स्थित है, इस प्रकार से चिन्तन करते हुए अपने परम कारुणिक जीवनाधार परमेश्वर में अनुरक्त रहते हुए उनकी ही आज्ञा समझ उनके आत्मस्वरूप समष्टि की सेवा में निरत रहना भक्ति का दूसरा रूप है। भक्ति वा उपासना की एक तीसरी विधि है, जिसे अहंग्रह उपासना कहते हैं। इस विधि में परमेश्वर की विभुता तथा जीव की लघुता, इन दोनों को प्रकृतिजन्य उपाधि जान इसका त्याग कर केवल चिद्घन तत्त्व एक है उसमें स्वामी–सेवक, अंश–अंशी, पिता–पुत्र आदि भाव केवल काल्पनिक हैं, ऐसा निश्चय कर तत्त्वमसि, सोऽहमस्मि, अयमात्मा ब्रह्म, प्रज्ञानं ब्रह्म आदि श्रुति वाक्यों का चिन्तन–मनन करते हुए उस परम–चैतन्य ब्रह्म को आत्म रूप में ही आराधना अर्थात् आत्मस्वरूप को उससे अभिन्न मान उसमें अनुरक्त होना ही उपासना की तीसरी विधि है, इसी को अंहग्रह उपासना कहते हैं। उपासना की इस प्रक्रिया में भाग–त्याग लक्षणा का प्रयोग किया जाता है। अभिप्राय यह है कि चेतन तत्त्व एक है, वह अखंड है, अनन्त है, समस्त उपाधियों से परे है इसीलिए उसे गुणातीत वा निर्गुण कहा जाता है। ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त यह विराट् विश्व प्रकृति का ही विलास है। इस विलास में वह परम चैतन्यघन पुरुष सन्निधि मात्र से हेतु बनता है। प्रकृति यद्यपि उस परम चैतन्य के ही आश्रित रहती है, उसी की शक्ति है फिर भी वह प्रकृति से परे है, प्राकृत गुणों का उसमें प्रवेश नहीं, उस परम चैतन्य के

प्रकाश में ही प्रकृति अनन्त ब्रह्माण्डों का सृजन, पालन और संवरण करती है। प्रकृति को प्रकाश प्रदान कर उसे सजीव बना देना, यह उस परमेश्वर का सहज विलास है। उस परमेश्वर के तेज से गर्भित प्रकृति समष्टि जीवन के अधिष्ठाता ईश्वर को तथा व्यष्टि जीवन के अधिष्ठाता जीव को जन्म देती है। चिदांश रूप से जीव तथा ईश्वर, ये दोनों ही परमेश्वर के अभिन्न स्वरूप हैं। इनमें जो समष्टि और व्यष्टि का भेद है वह प्रकृतिजन्य है तत्त्वतः नहीं। गीता के १४ वें अध्याय में स्वयं भगवान् ने ही इस रहस्य का उद्‌घाटन किया है। व्यष्टि चित्तगत चेतन, जो जीव संज्ञा को प्राप्त हुआ है, वह भी गुणातीत परमेश्वर का ही चिदांश है। उपनिषदों में तत्त्वद्रष्टा महर्षियों ने उसे परमेश्वर का अंश, परमेश्वर का प्रतिबिंब तथा परमेश्वर का आभास बताया है। इन तीनों दृष्टियों से वह तत्त्वतः परमेश्वर से अभिन्न है। भाग—त्याग लक्षणा में जीव का व्यष्टिभाव तथा ईश्वर का समष्टिभाव दोनों ही परमेश्वर की पराशक्ति का विलास स्वीकार कर उसका निराकरण करते हुए विशुद्ध चित्त तत्त्व की एकता को ही परम सत्य के रूप में स्वीकार कर उसी का चिन्तन और ध्यान करने का निर्देश श्रुति करती है।

अहंग्रह उपासना में शरीर, इन्द्रियां, मन, व्यष्टि अहं आदि का किसी भी प्रकार से प्रयोग नहीं किया जाता। बाह्य पदार्थों की तो कोई चर्चा ही नहीं है। यह उपासना की विधि केवल विशुद्ध बुद्धि से ही साध्य होती है। इस साधना में न तो कोई बाह्य अवलम्बन होता है न अन्तर अवलम्बन ही। श्रुति के सार रूप चित्त तत्त्व की एकता का ही चिन्तन और ध्यान इस उपासना की प्रमुख साधना है। इस विधि में वाणी और मन का न तो प्रयोग होता है न उसकी पहुँच ही है। साधकों के लिए यह बड़ी ही सावधानी की बात है कि वे भूल कर भी इस अद्वैत अनुभूति वा चिन्तन को कभी भी व्यष्टिभाव में प्रकट न होने दें अन्यथा इस साधना के विकृत परिणाम स्वरूप घोर पतन की आशंका उपस्थित हो जाती है। वाणी से सोऽहम् वा शिवोऽहम् का उच्चारण वा गान व्यष्टिभाव को ही पुष्ट करता है जो आसुरी प्रवृत्ति का जन्मदाता है इसीलिए संतों ने इस अहंग्रह की उपासना के लिए अधिकारी के लक्षणों का उपदेश किया है। जो शरीरासक्त हैं, व्यष्टिभाव में आबद्ध हैं, जिनकी विषयों से रसानुभूति बनी है, ऐसे लोग इस अहंग्रह उपासना के अधिकारी नहीं, केवल विशुद्धचेता मुमुक्षु ही इस अहंग्रह उपासना का अभ्यासी हो सकता है। उपनिषदों में इस अहंग्रह उपासना की विधि का निर्देश है। केवल निराकर

उपासकों के लिए ही नहीं अपितु साकार उपासकों के लिए भी अहंग्रह उपासना की विधि का संकेत प्राप्त होता है। गीता के १२ वें अध्याय के तीसरे और चौथे श्लोक में जिस अव्यक्त उपासना की बात भगवान् ने कही है वह अहंग्रह उपासना ही है। भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में वहीं पांचवें श्लोक में यह चेतावनी भी दी है कि–

अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।

(गीता १२/५)

देहधारी व देहासक्त के लिए उस अनिर्देश्य, अव्यक्त अक्षर में प्रवेश प्राप्त करना सुगम नहीं, अत्यन्त कष्ट साध्य है और यदि सही रूप से इसका अभ्यास न किया गया तो परिणाम भी अहितकर होता है। शरीरासक्त साधक जब अहंग्रह उपासना का आसरा लेता है तो शरीरस्थ चेतन को ही ईश्वर रूप में घोषित करता हुआ महामोह के गर्त में आ पड़ता है। ऐसे साधकों के लिए ही गोस्वामी जी का कथन है –

ब्रह्मज्ञान बिनु नारि नर करहिं न दूसरि बात।
कौड़ि लागि मोह बस करहिं बिप्र गुर घात।।

कवितावली में भी उन्होंने अपने समय के भ्रांतिचित्त ब्रह्मवादियों की चर्चा करते हुए लिखा है –

आगम, वेद, पुरान बखानत मारग कोटिन, जाहिं न जाने।
जे मुनि ते पुनि आपुहि आपु को ईसु कहावत सिद्ध सयाने।।

(उ. १०५)

"वेद, पुराण, शास्त्र अनेक प्रकार के मार्ग बताते हैं जिनका यथार्थ स्वरूप जानने में नहीं आता और जो वर्तमान के मुनि लोग हैं वे अपने को ही ईश्वर, सिद्ध और सर्वज्ञ बताते हैं। जितने धर्म के साधन थे उन सबको कलिकाल ने ग्रस लिया है। जप, योग और वैराग्य आदि साधन अपनी जान बचा कर भाग गए हैं। तुलसीदास जी कहते हैं कि इन सबकी चिन्ता करके कौन मरे अर्थात् इनकी चिन्ता करना व्यर्थ है। हम तो अब जानकीदास के हाथ में बिक गए हैं। उनका होकर ही जीने में अपना कल्याण है, यह निश्चय कर चुके हैं।" अभिप्राय यह है कि शरीरासक्त व्यक्ति के द्वारा यह अहंग्रह उपासना सुगम नहीं; यदि वह करता है तो स्वयं को ही भगवान् मान लेने की भ्रान्ति में पड़कर मानव समाज में अनर्थ उपस्थित कर देता है। मेरे विचार से सजग साधक के लिए यह आवश्यक है कि

वह भगवान् मारुति द्वारा निर्दिष्ट पथ का ही अवलम्बन ले। इस साधन पथ में शरीर के स्तर पर प्रभु की दास्यभक्ति, चिदांश के स्तर पर प्रभु में पिता–पुत्र भाव तथा तत्त्व के स्तर पर प्रभु से अभिन्नता की अनुभूति, यही प्रशस्त मार्ग है। इसमें न तो कहीं भ्रान्ति के लिए स्थान है और न विपरीत परिणाम के लिए ही। ऐसे उपासक के लिए ही श्रुति कहती है –

सदारामोऽहमस्मीति तत्त्वतः प्रवदन्तिये।
न ते संसारिणो नूनं राम एव न संशयः।।

(राम उत्तरतापनी)

जो तत्त्वतः सदैव **रामोऽहम्** इस प्रकार से चिन्तन करते हुए इसका अभ्यास करते हैं निश्चय ही वे संसारी जीव नहीं साक्षात् श्रीराम के ही स्वरूप हो जाते हैं। श्रीराम उत्तरतापनी उपनिषद् श्री रामोपासना की आधारभूत उपनिषद् है। इस उपनिषद में भी श्रीराम की अहंग्रह उपासना का निर्देश है। इस उपासना के द्वारा जीव अपने जीवत्व से सदा के लिए विमुक्त हो परमेश्वर में ही विलीन हो जाता है।

सभी साधनाओं का प्रयोजन जीव के लिये परमार्थ की सिद्धि है। इसी को मोक्ष कहते हैं। उपनिषदों में मोक्ष के दो रूप बताए हैं– सद्योमुक्ति तथा क्रममुक्ति। सद्योमुक्ति के लिए यह अहंग्रह उपासना श्रेष्ठतम साधन है। इस उपासना की सिद्धि ब्राह्मी स्थिति के रूप में प्राप्त होती है। ब्रह्म–भाव में स्थित साधक शरीर का त्याग करते ही ब्रह्म में लीन हो जाता है। गीता तथा उपनिषदों में इसका वृहद् विवेचन किया गया है, यहां तो मैं केवल संकेत मात्र कर रहा हूँ।

मुक्ति का दूसरा रूप है क्रममुक्ति जिसमें साधक सूर्यमंडल को भेद कर ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है। अमित काल तक ब्रह्मलोक में निवास कर महाप्रलय में ब्रह्मदेव के साथ ही वह परब्रह्म में लीन हो जाता है। शास्त्रों में मुक्ति का एक और भी रूप पढ़ने को प्राप्त होता है जिसमें जीव अपने जीवत्व भाव को सुरक्षित रखते हुए अज्ञान तथा माया के प्रभाव से विमुक्त हो अपने इष्ट के धाम को प्राप्त करता है और वहां पर चार स्थितियों में से किसी एक स्थिति में निवास करते हुए परमानंद का उपभोग करता है। दार्शनिक भाषा में उन स्थितियों को सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य मुक्ति के नाम से वर्णन किया गया है। मोक्ष की इन स्थितियों को प्राप्त करने का साधन भेद–भक्ति है। जो साधक स्वयं को भगवान् से भिन्न स्वीकार कर भेद–भक्ति की भावना से भावित हो उस परमेश्वर में अनुराग

करता है, उस साधक को उसकी रुचि एवं साधनानुसार उन चार प्रकार की मुक्तियों में से किसी एक की प्राप्ति हो जाती है। भेद भक्ति की साधना के पांच भेद हैं–दास्य भाव, सख्य भाव, वात्सल्य भाव, शान्त भाव और माधुर्य भाव। इन भावों से युक्त होकर साधक जब अपने इष्ट में अनुराग करता है तो अपने भावानुसार शरीर छोड़ने के पश्चात् दिव्य रूप में अपने इष्ट के धाम में, इष्ट के सन्निकट, इष्ट जैसे स्वरूप को प्राप्त कर इष्ट के साथ परमानंद का उपभोक्ता बनता है। अहंग्रह उपासना का फल इससे भिन्न है; इस उपासना के परिणाम में साधक अपने जीवत्व से विमुक्त हो ब्रह्मलीन हो जाता है। उपनिषद् कहती है, जैसे नदियां अपने नाम–रूप का त्याग कर समुद्र में विलीन हो समुद्र हो जाती हैं उसी प्रकार से साधक अपने नाम–रूप का त्याग कर ब्रह्मरूप को प्राप्त कर लेता है, यही अहंग्रह उपासना का अन्तिम प्राप्तव्य है।

ईश्वरप्रणिधान योग

ब्रह्मर्षि पतंजलि के विचारानुसार जीवन में आने वाले दुःख का भय मनुष्य के लिए महान् क्लेशप्रद है। यह दुःख मानव के लिए सहज वा स्वाभाविक नहीं अपितु आगन्तुक है; अतः इसे दूर किया जा सकता है। इस आने वाले दुःख के भय का कारण है, उस कारण को दूर किया जा सकता है। इसके लिए समुचित उपाय हैं। सरल शब्दों में उसे यूँ कह सकते हैं कि दुःख है, दुःख का कारण है, उसको दूर किया जा सकता है और उसके लिए उपाय हैं। महर्षि पतंजलि की दार्शनिक भाषा में इन्हें क्रमशः हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय कहते हैं। आगन्तुक दुःख हेय है, अविद्या उसका कारण है, अविद्या वा विपरीत ज्ञान की निवृत्ति हो सकती है। अचल विवेक का प्रकाश ही एकमात्र उसका उपाय है। महर्षि के शब्दों में –

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः।

(यो०सू० २/२६)

स्थिर वा सुदृढ़ विवेक का प्रकाश ही अविद्या रूप मिथ्या ज्ञान वा भ्रान्त धारणा के निराकरण में एकमात्र उपाय है। स्थिर विवेक का प्रकाश कैसे प्राप्त हो सकता है, इस जिज्ञासा के समाधान में महर्षि ने चार प्रकार के साधन प्रस्तुत किये हैं। जिनमें प्रथम साधन का स्वरूप अभ्यास और वैराग्य है, इसका वृहद् वर्णन एक लेख में किया जा चुका है। अब मैं साधकों की जानकारी के लिए विवेकख्याति को प्राप्त करने के लिए महर्षि द्वारा प्रस्तुत एक दूसरी विधि का यहां पर विवेचन करूंगा, जिसको उन्होंने ईश्वरप्रणिधानाद्वा कहा है। ईश्वर प्रणिधान के द्वारा भी स्थिर विवेक प्रकाश को प्राप्त किया जा सकता है। विवेकख्याति महर्षि का अपना रुचिकर शब्द प्रयोग है, दूसरे शब्दों में इसे योगदर्शन का पारिभाषिक शब्द भी कह सकते हैं, जिसका अर्थ होता है चिति शक्ति का स्थिर चित्त में प्रकट होने वाला सहज प्रकाश। इस प्रकाश में ही चित्त और चेतन के भेद का यथार्थ बोध प्राप्त

होता है, यही बोध चेतन को स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित होने में तथा चित्त के अपने कारण में लय होने में हेतु बनता है। चित्त–लय और चेतन की स्वरूप प्रतिष्ठा को कैवल्य वा मोक्ष कहा जाता है। महर्षि पतंजलि का मन्तव्य है –

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्।

(यो० सू० ३/५५)

अर्थात् सत्त्व, बुद्धि वा चित्त की शुद्धता तथा पुरुष की साम्यावस्था ही कैवल्य है। इस विवेकख्याति को प्राप्त करने के लिए सत्त्व की विशुद्धता एवं स्थिरता एक परम अनिवार्य तत्त्व है। पतंजलि की भाषा में सत्त्व की इस अवस्था को समाधि कहते हैं। उनका मत है कि समाधि अवस्था में ही चित्त शुद्ध और स्थिर होता है। शुद्ध स्थिर चित्त में ही चिति शक्ति का सहज प्रकाश यथार्थ बोध में हेतु बनता है, अतः जिस किसी प्रकार से समाधि को प्राप्त किया जा सके साधक के लिए वही साधन अभीष्ट एवं उपयोगी है।

ईश्वरप्रणिधान के द्वारा भी समाधि की सिद्धि हो सकती है। प्रथम प्रकार के साधक में अभ्यास–वैराग्य के द्वारा साधन की सिद्धि का उपाय बताया जो कि बुद्धिप्रधान अधिकारी के लिए सुगम है। ईश्वरप्रणिधान की प्रक्रिया की विशेष उपयोगिता हृदयप्रधान अधिकारी के लिए है। हृदयप्रधान अधिकारी श्रद्धापूरित होने के नाते सद्गुरु एवं शास्त्र के वाक्य में सहजता से विश्वास कर लेता है। शास्त्र और सद्गुरु के शब्दों में प्रत्यक्षवत् विश्वास ही श्रद्धा कही जाती है, जो कि हृदयप्रधान अधिकारी के लिए सहज है। सुने हुए ईश्वर में संशयरहित विश्वास करके उसके स्वरूप का ध्यान तथा ईश्वर की ईश्वरता का अवबोधक शब्द, जिसे ईश्वर का वाचक कहा जाता है, उसका श्रद्धापूरित हृदय से जप ईश्वरप्रणिधान का स्वरूप है। मानव की आन्तरिक अभीप्सा का मूर्तरूप ही ईश्वर है। मानव स्वयं को सर्वथा क्लेशमुक्त पाना चाहता है ; समस्त कर्म और तद्जन्य फल से भी विमुक्त होना चाहता है तथा कर्मों के संस्कार रूप आशय से भी रहित होना चाहता है क्योंकि कर्म, कर्म विपाक, कर्माशय, ये तीनों ही तत्त्वतः प्रकृति के कार्य हैं। पुरुष सदैव इनसे असंग ही रहता है। श्रुति का कथन है – **"असंगो अयम् पुरुषः,"** भ्रान्तिवश प्रकृति के कार्यों से तादात्म्य सम्बन्ध हो जाने पर उन सभी को वह अपना ही कार्य मानने लगता है और इसके परिणामस्वरूप ही वह नाना प्रकार के क्लेशों का भाजन बन जाता है। यथार्थतः उसे क्लेश, कर्म, विपाक और आशय, ये अभीष्ट

नहीं, किन्तु इनसे छुटकारा पाने के लिए वह भ्रान्तिवश इन्हीं का अवलम्बन लेता है। सद्‌गुरु तथा शास्त्र के उपदेश से जब इन सबसे परे, इन सबसे सर्वथा अपरामृष्ट एक सर्वशक्तिमान् ईश्वर की सत्ता का बोध होता है तब वह स्वयं को प्रकृति के अवलम्बन से मुक्त कर उस सुने हुए ईश्वर का आश्रय ग्रहण करने में विलम्ब नहीं करता। ईश्वर के उस परम प्रकाशमय सच्चिदानंदमय स्वरूप का चिन्तन और उसके वाचक प्रणव 'ॐ' का जप करता हुआ साधक सुगमता से ही चित्तगत समस्त वासनाओं का उन्मूलन कर उसे निर्वासनिक, शुद्ध तथा सुस्थिर बना लेता है। यह पहले बताया जा चुका है कि चित्त की शुद्ध तथा सुस्थिर अवस्था को ही समाधि कहते हैं। यह समाधि ईश्वरप्रणिधान द्वारा साधक को सुगमता से ही प्राप्त हो जाती है। महर्षि पतंजलि का कथन है – **"समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात् (यो० सू० २/४५)"** अर्थात् ईश्वरप्रणिधान से समाधि अवस्था की प्राप्ति हो जाती है। प्रणिधान शब्द का अर्थ होता है—मनन और भावचिन्तन—**प्रणिधीयते इति प्रणिधानः** अभिप्राय यह है कि ईश्वर के स्वरूप विशेष का भाव–विशेष से चिन्तन ही ईश्वरप्रणिधान है। इस प्रणिधान में **तस्य वाचकः प्रणवः, तज्जपस्तदर्थ भावनम्, (यो०सू० १/२७,२८)** उस ईश्वर का वाचक प्रणव है। **प्रकृष्ट रूपेण नवति सत्वति इति प्रणवः,** जिस शब्द विशेष के द्वारा परमेश्वर की प्रकृष्ट महिमा का गान होता हो, उसे प्रणव कहते हैं।

वेदादि शास्त्रों में 'ॐ' शब्द को ही प्रणव कहा गया है। यह ॐ पञ्चाक्षर है। अ, उ, म, अर्धमात्रा और नाद, ये ही पांच इसके अक्षर वा अवयव कहे गये हैं। इनमें अ सर्वव्यापक विष्णु, उ सर्व सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा और म सर्वसंहारकर्ता शिव तत्त्व का अवबोधन कराता है। परमात्मा के ये तीनों विवर्त सत, रज तथा तम गुण के अधिपति के रूप में स्वीकार किए गये हैं। अर्धमात्रा इनकी जन्मदात्री पराशक्ति का अवबोधन कराता है और नाद परब्रह्म परमात्मा का। इस प्रकार प्रणव शब्द उच्चारण से सृष्टि, पालन, प्रलय, उसकी आधार भूता परा शक्ति परमेश्वरी और उसके परम प्रकाशक परब्रह्म का अवबोधन प्राप्त होता है। प्रकृष्ट रूप से परमेश्वर के परिपूर्ण रूप का अवबोधन कराने से ही ॐ को प्रणव कहते हैं। इसका एक अर्थ यह भी है कि प्रभु के नित्य नवीन रूप का वाचक होने से इसे प्रणव कहा जाता है। यह प्रकृति के सम्पूर्ण प्रपंच का निराकरण कर परमेश्वर के स्वरूप में साधक को प्रतिष्ठित कर देता है; इसलिए इसे भी प्रणव कहते हैं। इस प्रकार

शास्त्रों में प्रणव शब्द की विविध प्रकार की व्याख्यांए उपलब्ध होती हैं। महर्षि पतंजलि इसे परमेश्वर का वाचक अर्थात् **प्रकृष्टेन भूयते अनेन इति प्रणव;** इस व्याख्या के साथ इसके अर्थ, स्वरूप, परब्रह्म परमात्मा के सच्चिदानंद स्वरूप का चिन्तन, मनन एवं प्रणव ओंकार के जप को ही ईश्वरप्रणिधान के रूप में प्रस्तुत किया है। उपनिषदों में भी इसी प्रकार से प्रणव उपासना की विधि का वर्णन है। अनन्त जन्मों के चित्त में पड़े हुए काषाय को नष्ट करने के लिए प्रणव का जाप एक परम रसायन तत्त्व माना गया है। इसके मनन करने से साधक क्लेश, कर्म, विपाक, आशय से सदा के लिए त्राण पा जाता है इसलिए इसे मन्त्र कहा गया है। इसके अर्थ–चिन्तन के साथ मनन से साधक चित्त तथा उसके कार्य से विमुक्त हो अपने कारणस्वरूप ईश्वर से युक्त हो जाता है इसलिए इस साधना को मन्त्रयोग नाम से अभिहित किया गया है। हृदय प्रधान विशेष अधिकारी के लिए यह प्रणव उपासना या मन्त्रयोग की साधना परम उपयोगी है। मेरे विचार से ईश्वरप्रणिधान रूप साधना को यदि भक्तियोग कहा जाय तो असंगत न होगा क्योंकि इस साधना के द्वारा साधक ईश्वर के गुण,धर्म,स्वरूप,स्वभाव का चिन्तन करता हुआ कीट–भृंग न्याय से ईश्वर से अभिन्न हो जाता है।

यहाँ एक बात और ध्यान रखने की है कि महर्षि पतञ्जलि दार्शनिक दृष्टि से सांख्य सिद्धान्त के अनुयायी हैं; अतः वे पुरुष–विशेष ईश्वर में कर्तृत्त्व को स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टि में ईश्वर श्वेताश्वतर उपनिषद् में वर्णित साक्षी, चेता, केवल और निर्गुण है। पुरुषविशेष का ही अंशभूत पुरुष है। ईश्वरप्रणिधान द्वारा वह अपने अंशी से अभिन्न हो सदा के लिए कृतकृत्य हो जाता है। इसलिए उन्होंने समाधि की श्रेष्ठतम अवस्था को प्राप्त करने के लिए अभ्यास–वैराग्य के साथ विकल्प रूप में ईश्वरप्रणिधान को भी श्रेष्टतम साधन के रूप में प्रस्तुत किया है। अधिकारी भेद से साधक अभ्यास, वैराग्य वा ईश्वरप्रणिधान दोनों में से किसी भी एक का आश्रय लेकर साधना में प्रवृत्त हो सकता है। ईश्वरप्रणिधान में भी प्रणव जप के साथ उसके अर्थ–चिन्तन की विशेष महत्ता है। जहाँ पर ईश्वर में आस्था और उसके वाचक प्रणव का जप अटूट श्रद्धा से सम्बन्धित है वहां पर प्रणव के अर्थ का चिन्तन प्रखर प्रज्ञा द्वारा ही साध्य है। अभिप्राय यह है कि ईश्वरप्रणिधान की साधना में भी हृदय के साथ–साथ बुद्धि का पूर्ण प्रयोग है। हृदय और बुद्धि के प्रयोग से ही यह साधना सम्पन्न हो पाती है

अन्यथा नहीं। क्योंकि पतञ्जलि के मतानुसार प्रणव के अर्थ रूप ईश्वर के चिन्तन के अभाव में केवल उनका जप साधक को सिद्धि नहीं दिला पाता। इसीलिये उन्होंने जोर देकर कहा है **तज्जपस्तदर्थभावनम्**। इस जप योग के द्वारा साधक के चित्त का आवरण अथवा मल नष्ट हो जाता है और उसमें आत्मस्वरूप वा ईश्वर के सच्चिदानन्द स्वरूप में अवस्थित होने की क्षमता आ जाती है। आत्मस्वरूप में अवस्थिति ही श्रेष्ठतम समाधि की अवस्था है। इसे ही महर्षि ने सर्वनिरोध की परिणामरूपा निर्बीज समाधि कहा है। इस समाधि को प्राप्त हुआ योगी जीवनकाल में जीवनमुक्त की अवस्था में निवास करता है और शरीर छूटने के पश्चात् वह सच्चिदानन्दसिंधु में विलीन हो ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त कर लेता है। उपनिषद् के शब्दों में **तस्य प्राणान्न उत्क्रामम्** अर्थात् उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते, वह सद्योमुक्ति का भाजन बन जाता है। यही साधक–जीव का परम प्राप्तव्य साध्यतत्त्व है और महर्षि के मत से ईश्वरप्रणिधान रूप जपयोग वा मन्त्रयोग इसका सर्वोत्तम साधन है।

देवर्षि नारद तथा उनका भक्तिमार्ग

परमार्थ–पथ के पथिक के लिए संस्कृत–साहित्य में अनेक प्रकार की विधियों का उल्लेख प्राप्त होता है और प्राचीन महर्षियों ने प्रत्येक विधि का दार्शनिक विश्लेषण प्रस्तुत कर उसे अबुद्ध मानव–समाज के लिए तर्कसंगत, युक्तियुक्त, बुद्धिगम्य तथा ग्रहणीय बना दिया है। भक्तिमार्ग यद्यपि हृदय की सुकोमल भावनाओं से सम्बन्धित है फिर भी वह अन्धविश्वास पर अवलम्बित नहीं और न ही वह विवेकविरुद्ध जीवन की भावुकतापूर्ण क्रिया ही है। भक्तिमार्ग के अनेक आचार्य हो गए हैं। उन आचार्यों ने भक्ति की दार्शनिक मीमांसा प्रस्तुत करते हुए मानवमात्र के लिए उसकी उपयोगिता का उद्घोष किया है। उनमें महर्षि शांडिल्य तथा देवर्षि नारद का नाम विशेष स्मरणीय है। यहां पर मैं जिज्ञासु साधकों के लिए देवर्षि नारद द्वारा प्रस्थापित भक्तिमार्ग की दार्शनिक दृष्टि तथा उसका अवलम्बन लेने वाले मुमुक्षु साधक के लिए करणीय अनुष्ठानों से सम्बन्धित संक्षेप में ही कुछ बताने का प्रयत्न करूंगा। इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए देवर्षि नारद के भक्ति सूत्र पर मेरे द्वारा की गई वृहद् व्याख्या उपलब्ध है। विशेष जानने के इच्छुक साधक उसके अध्ययन से जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

देवर्षि नारद अपने भक्तिदर्शन का प्रारम्भ "अब मैं भक्ति की व्याख्या करूंगा," इस वाक्य से करते हैं। भक्ति का यथार्थ स्वरूप क्या है ? इसके उत्तर में आपका कथन है 'ईश्वर में परम अनुरक्ति व प्रेम ही भक्ति है और वह अनुरक्ति परम प्रेमरूपा तथा अमृतस्वरूपा है अर्थात् ईश्वर में परमोत्कृष्ट प्रेम ही उसमें परम अनुरक्ति का साधन है और उस परम अनुरक्ति से साधक ईश्वर के साथ अभिन्न हो अमृतत्त्व को प्राप्त कर लेता है, जो कि साधक के जीवन का परम लक्ष्य है। देवर्षि के मतानुसार जगत् के व्यक्ति तथा वस्तु में राग ही मनुष्य के लिए अनन्त दुःखों का कारण बना हुआ है और यह राग चित्तगत चेतन का सहज धर्म है,

इसका किसी भी प्रकार से निराकरण नहीं किया जा सकता, केवल इसके प्रवाह की दिशा में परिवर्तन किया जा सकता है। जो राग संसार की वस्तु और व्यक्तियों के साथ युक्त हो कर मुनष्य के दुःख में हेतु बना है, वही राग यदि जीव के परम कारणस्वरूप परमाधार परमेश्वर से सम्बन्धित हो जाय तो उसके लिए परमानन्द का प्रदाता बन जाएगा। जगत् में राग मृत्यु प्रदान करता है जबकि जगदीश से युक्त होने पर वही राग अमृतत्त्व प्रदान करने में हेतु बन जाता है। अमृतत्त्व की लालसा ही जीव का जीवन है। इस लालसा की पूर्ति मानव–शरीर में सुगमता से की जा सकती है। अन्य योनियों में जीव को वह सुविधाएं प्राप्त नहीं जिससे वह अमृतत्त्व को प्राप्त कर सके। परमेश्वर ही अमृत है और उससे भिन्न जो कुछ भी है वह मृत है। देवर्षि का कथन है –ईश्वर में परम प्रीति होने से ईश्वर का चिन्तन अखण्ड रूप से बना रहता है, जिसके द्वारा भक्त में ईश्वर के गुण–धर्म–स्वभाव का आविर्भाव होता है और भक्त भगवत्स्वरूप को प्राप्त कर मर्त्य से अमृतस्वरूप को प्राप्त कर लेता है। देवर्षि का कथन है–परम प्रेमरूपा यह परमेश्वर की भक्ति साधक को केवल अमृत ही प्रदान नहीं करती, भगवत् प्रेम को प्राप्त कर मनुष्य जन्म–मृत्यु के प्रवाह से विमुक्त हो आत्मतत्त्व हो जाता है। इसको प्राप्त करने के पश्चात मानव की सम्पूर्ण वासनाएं समाप्त हो जाती हैं। वासनारहित जीवन में किसी प्रकार का शोक वा मोह नहीं रह जाता। फिर उसमें जगत् के प्रति राग और द्वेष तथा जगत् के पदार्थों को प्राप्त करने के उत्साह के लिए स्थान कहाँ! भक्त भगवत् प्रेम में सदैव निमग्न रहता है। उसकी इन्द्रियां बाह्य विषयों से स्वतः विरत हो जाती हैं। इस प्रकार से वह आत्माराम अर्थात् परमात्मा में ही रमण करने वाला हो जाता है। भगवत् प्रेमरूपा भक्ति कामना में नहीं, समस्त कामनाओं से रहित होने पर ही सिद्ध होती है, इसलिए वह निरोधरूपा कही जाती है। जब तक व्यक्ति में लौकिक सुख की कामना बनी है, तब तक भगवान् के साथ उसका विशुद्ध प्रेम नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, यदि वह वैदिक अनुष्ठानों के द्वारा परलोक व लोक के सुख की कामना रखता है तब भी यह प्रेमाभक्ति सिद्ध नहीं हो सकती। यह भक्ति तो परमात्मा में अनन्य भाव से किये हुये प्रेम वा अनुराग द्वारा ही सिद्ध होती है। भक्ति के आचार्य गोस्वामी तुलसीदास जी का भी यही कथन है–

सगुन उपासक मोक्ष न लेहीं। तिन कहुँ राम भगति निज़ देहीं।।

परमात्मा के सगुण–साकार स्वरूप की आराधना करने वाले भक्त मोक्ष–सुख का भी सर्वथा त्याग कर देते हैं और उनके इस त्याग पर रीझ कर ही करुणानिधान भगवान् श्रीराम उन्हें अपनी भक्ति प्रदान करते हैं। देवर्षि के शब्दों में भक्ति की साधना के लिये प्रभु में अनन्यता ही एकमात्र शर्त है। जो साधक इस शर्त को पूरा नहीं कर सकता, वह भक्तिमार्ग का पथिक नहीं हो सकता। अनन्यता किसे कहते हैं, इसको स्पष्ट करते हुऐ देवर्षि कहते हैं–

अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता।

एकमात्र अपने प्रेमास्पद परमात्मा का आश्रय ग्रहण कर अन्य सब आश्रयों का त्याग कर देना ही अनन्यता है। मानव स्वभाव से अस्थिर चित्त, अल्पज्ञ, शंकालु एवं भयभीत होता है ; इसलिए वह कहीं भी एकनिष्ठ नहीं हो पाता किन्तु प्रभु का कथन है –

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।।

(गीता ८/१४)

अभिप्राय यह कि अन्य–चेता हो कर जो कुछ भी सुमिरन, भजन, आराधना आदि किया जाता है, उससे प्रभु की प्राप्ति सुलभ नहीं है। प्रभु तो केवल उसी के लिए सुलभ होते हैं जो अनन्यचेता होकर सतत प्रभु का सुमिरन करते हुए प्रभु के साथ नित्य जुड़ा हुआ होता है। देवर्षि नारद भक्तिपथ के पथिकों को प्रभु की प्राप्ति का सुलभ तथा सुगम उपाय बताते हुए यह समझा रहे हैं कि जो संसार के स्नेहियों, सम्बन्धियों का आश्रय लिए हुए हैं व संसार के उपयोगी पद–पदार्थों का आश्रय लिए हुए हैं– वे कभी भी इस परम प्रेमरूपा भक्तिपथ के पथिक नहीं हो सकते। प्रेमपथ के पथिक को तो अपने प्रेमास्पद के अतिरिक्त अन्य सभी आश्रयों का पूर्णतया त्याग कर देना होता है। अनन्य भाव से किया हुआ अखण्ड सुमिरन, चिन्तन एवं ध्यान के साथ ही शरीर, मन, वाणी से होने वाले समस्त क्रिया–कलापों को अपने प्रेमास्पद प्रभु के चरणों में समर्पित करते हुए एकमात्र उन्हीं का होकर, उनसे युक्त होकर रहना ही उन्हें प्राप्त करने का श्रेष्ठतम उपाय है।

भक्ति के स्वरूप व लक्षण को समझाते हुए देवर्षि ने अन्य कई महर्षियों की भी मान्यताओं का उल्लेख किया है। पराशरनन्दन श्री व्यास जी के विचारानुसार भगवान् के विभूति व विराट् स्वरूप की पूजा, अर्चना आदि में अनुरक्ति ही भक्ति

है। श्रीमद्भागवत में भगवान् व्यासदेव ने भक्ति का नवधा रूप में वर्णन किया है। इनके मतानुसार भगवत् चरित्र तथा उनके दिव्यगुणों का नित्य श्रवण, प्रभु के पवित्र नाम व गुणों का सतत कीर्तन, गान, प्रभु के पावन मन्त्र तथा उसके अर्थ का अखण्ड सुमिरन, प्रभु के विभूति, विराट् व अर्चा स्वरूप का पूजन, सेवन, अपने समस्त कर्मों का प्रभु की प्रसन्नता के लिए ही अनुष्ठान करते हुए प्रभु का समर्चन, बार-बार प्रभु का वन्दन, दास्यभाव से उनकी आज्ञा का पालन, प्रभु के प्रति सहज स्नेह तथा उनकी सन्निधि का अनुभव करते हुए उनके प्रति स्वयं का समर्पण ही भक्ति का स्वरूप है। इसी प्रकार से प्रभु की पावन कथा में अनुरक्ति ही महर्षि गर्गाचार्य के मत से भक्ति है। महर्षि शांडिल्य के मत से 'आत्मरति के अविरोधी तत्त्व में अनुराग होना ही भक्ति है।' किन्तु देवर्षि नारद कहते हैं -परमेश्वर के प्रति प्रेमस्वरूपा भक्ति के अनुष्ठाता को चाहिए कि वह अपने सम्पूर्ण आचार-विचार, व्यवहार आदि को पूर्णतया प्रभु को समर्पित कर निरन्तर उनके सान्निध्य का अनुभव करता रहे। पल मात्र की भी प्रभु की विस्मृति में प्रेमी भक्त जब आकुल हो जाय तो समझ लेना चाहिए कि भक्त के जीवन में अब भक्ति का उदय हो गया है। उदाहरण में उन्होंने ब्रज की गोपियों का जीवन प्रस्तुत करते हुए यह बताया है कि यह ब्रजांगनाएं भगवान् की परम प्रेमारूपा भक्ति का आदर्श हैं। वे अपने सम्पूर्ण क्रिया-कलापों को प्रेमास्पद भगवान् श्रीकृष्ण के साथ जोड़कर उनकी अखण्ड स्मृति में ही सतत निमग्न रहा करती थी।

कुछ लोगों का कथन है कि प्रेम में नेम के लिए स्थान नहीं रहता किन्तु देवर्षि नारद का कथन है कि भक्ति में भगवान् के महात्म्य की विस्मृति नहीं होनी चाहिए। यदि ऐसा हुआ तो भक्ति शुद्ध रूप में नहीं रह जायेगी। शुद्धा भक्ति का पथिक भक्त प्रभु से प्रभु के लिये ही प्यार करता है; स्वयं के समस्त क्रिया-कलापों को अपने प्रेमास्पद की प्रसन्नता के लिए ही किया करता है। अभिप्राय यह कि प्रेमास्पद के सुख में ही सुखी रहना प्रेमी भक्त का सहज स्वभाव होता है। अपने सुख के लिए भंगवान् के सान्निध्य की चाह प्रेमा-भक्ति में महान् दोष माना जाता है। अतः भक्त किसी भी परिस्थिति में कभी भी अपने सुख के लिए प्रभु से न तो याचना करता है और न उसकी चाह ही रखता है। यह याद रहे भक्ति में प्राप्ति नहीं, पूर्ण समर्पण है। इसलिए भगवान् स्वयं भक्त के अपने हो जाते हैं और भक्त भगवान् से अभिन्न हो भगवत्स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। यही तो जीव के जीवन

का परम साध्यतत्त्व है, जिसकी खोज में वह अनेक जन्मों से अनेक योनियों में भटकता घूम रहा है।

भक्ति के मुख्य साधन बताते हुए देवर्षि कहते हैं – **तनु विषयत्यागात् संगत्यागाच्च**, भक्ति विषय और विषयों में आसक्ति के त्याग से ही सिद्ध होती है और उसके साथ ही – **अव्याकृत भजनात्**, अखण्ड भजन व सुमिरन का अभ्यास भी आवश्यक है। अपने दैनिक जीवन में भी सतत भगवान् के नाम का सुमिरन, उनके दिव्य गुणों का चिन्तन तथा उनकी पावन लीलाओं का गान– ये सभी भक्ति की साधना में परम उपयोगी तत्त्व हैं और इनसे भी महत्त्वपूर्ण है किसी परम भागवत् सन्त व सद्‌गुरु की कृपा। सन्त व सद्‌गुरु की कृपा के बिना मानव में भगवद् अनुराग का उदय नहीं हो पाता। यह संतपुरुषों की कृपा उनके सान्निध्य में रहने, उनकी सेवा करने तथा उनकी आज्ञानुसार जीवनयापन करने से ही प्राप्त होती है। देवर्षि का कथन है –

महत् संगस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च।

अर्थात् महापुरुषों का संग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ होता है। गोस्वामी जी का कथन है –

जब द्रवहिं दीन दयालु राघव साधु संगति पाइए।
जेहिं दरस परस समागमादिक पाप रासि नसाइए।।

दीनदयालु प्रभु जब द्रवित होते हैं, तभी मानव को सत्पुरुषों का संग प्राप्त होता है। ऐसे भगवद् अनुरागी सन्तों के दर्शन, उनके चरणस्पर्श तथा उनके सत्संग से अनेक जन्मों के संचित पाप समूह नष्ट हो जाते हैं। कीट–भृंग न्याय से सन्त प्रभु के अखण्ड चिन्तन के परिणाम से प्रभुमय हो जाते हैं। इसलिए जो फल प्रभु के दर्शन से प्राप्त होता है वही फल उनके अनन्य अनुरागी भक्त के दर्शन से भी प्राप्त हो जाता है। गोस्वामी जी के शब्दों में –

सरदातप निसि ससि अपहरई।
सन्त दरस जिमि पातक टरई।।

शरद ऋतु में सूर्य की प्रचण्ड किरणों से उत्पन्न हुये ताप को रात्रि में उदित होने वाला पूर्ण चन्द्र उसी प्रकार से हर लेता है जैसे सत्पुरुषों के दर्शन से पाप दूर हो जाते हैं। भगवान् और भगवान् के भक्त में भेद व द्वैतभाव का सर्वथा अभाव होता है। इसलिए भगवत् प्रेमरूपा भक्ति पथ के पथिक को चाहिए कि वह सदैव सन्त

महापुरुषों के सान्निध्य को प्राप्त करने का ही प्रयत्न करता रहे।

इस मार्ग में सबसे महान् बाधक तत्त्व है कुसंग। यद्यपि साधना के किसी भी मार्ग पर चलने वाले के लिये कुसंग सदैव ही बाधक हुआ करता है किन्तु भक्तिमार्ग के अनुयायी के लिए तो यह सबसे अधिक बाधक सिद्ध होता है। कारण कि ज्ञानमार्गी, योगमार्गी साधकों में भाव की अपेक्षा विवेक की प्रधनाता होती है। ये साधक सदैव सतर्कता के साथ हित–अहित का विचार करते हुए अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हैं, किन्तु प्रेम वा भक्तिमार्ग का पथिक स्वभाव से ही हृदयप्रधान तथा भावुक होता है। उसका चित्त भी अत्यन्त कोमल होता है इसलिये उस पर कुसंगति का अधिक वा शीघ्र प्रभाव पड़ता है। देवर्षि का कथन है कि भक्त को दुर्जनों का संग दूर से ही त्याग देना चाहिए। दुर्जनों के संग से चित्त में राग का जन्म हो जाता है। राग वासना को जन्म देता है और वासना बुद्धि को विमोहित कर उसमें द्वेष व क्रोध को जन्म देती है, जिससे स्मृति नष्ट हो जाती है व परिणाम में बुद्धिनाश के साथ ही सर्वनाश हो जाता है। अतः साधक को चाहिये कि इन सभी अनर्थो के मूल रूप कुसंग का सर्वथा त्याग कर दे और सत्संग में ही सदैव निरत रहे। देवर्षि ने अपने भक्तिदर्शन में एक प्रश्न उठाया है – **कस्तरति कस्तरति मायाम्** इस दुस्तर माया से कौन तरता है ? प्रश्न सुनने में जितना सरल दिखाई देता है, उत्तर उतना सरल नहीं। भगवान् ने स्वयं गीता में अपनी माया को दुस्तर बताया है **मम माया दुरत्यया**, और इस दुस्तर माया से पार जाने के लिये केवल एक उपाय घोषित किया है–

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।

"इस माया से वे ही पार जा सकते हैं जो मात्र मेरी शरण में आकर मुझे समर्पित हो जाएं।" देवर्षि का इस प्रश्न के उत्तर में कहना है – जो एकान्त सेवी है, जिसने लोक के समस्त बन्धनों को काट दिया है; जो तीनों गुणों से ऊपर उठ गया है और जो स्वयं के योगक्षेम की चिन्ता से मुक्त है, जो कर्मयोग का अनुष्ठान करता हुआ कर्म के फल का त्याग कर देता है, जो सम्पूर्ण लौकिक तथा वैदिक कर्मों को तिलांजलि देकर निर्द्वन्द्व हो जाता है, साथ ही जो कर्म के विधायक वैदिक मान्यताओं से विमुक्त हो जीवन के परमाधार सच्चिदानन्द परमात्मा में अखण्ड अनुराग को प्राप्त कर लेता है, वही इस माया से पार जा पाता है। ऐसा सत्पुरुष केवल अपना ही उद्धार नहीं करता अपितु वह असंख्य प्राणियों का उद्धारक हो

जाता है। देवर्षि के शब्दों में –

स तरति स तरति स लोकांस्तारयति।

यहां पर प्राणेश परमेश्वर में अखण्ड अनुराग की सिद्धि को प्राप्त करने के लिये आठ प्रकार के साधनों का प्रयोग बताया है, जिनका ऊपर सरल शब्दों में उल्लेख किया जा चुका है। ये सभी उपाय निरोध रूप हैं, कामना रूप नहीं। यह याद रहे कि कामना रूप उपाय सदैव परतन्त्र रहता है, जबकि निरोध रूप उपाय सदैव स्वाश्रित होते हैं जिनको करने में साधक सदैव स्वतन्त्र होता है। भगवत् अनुराग की प्राप्ति के लिये बताए गए इन सभी उपायों को साधक स्वतन्त्र रूप से कर सकता है, इसमें सन्देह नहीं। आवश्यकता है उसके अपने दृढ़ निश्चय के साथ प्रेमास्पद में अखण्ड आस्था की। कई आचार्यों का मत है कि इस पराभक्ति की साधना के लिए ज्ञान का होना आवश्यक है, कइयों का कथन है कि ज्ञान और भक्ति, ये दोनों एक दूसरे के आश्रित रहते हैं ; किन्तु देवर्षि का कथन है कि यह भगवत् प्रेमरूपा भक्ति स्वयं फलरूपा है। यह स्वयं में साधन भी है और साध्य भी। इस पराभक्ति के सम्बन्ध में गोस्वामी जी का कथन है –

साधन सिद्ध राम पद नेहू।
मोहि लखि परत भरत मत एहू।।

पराभक्ति के परमाचार्य महात्मा भरत के मत से भगवत् प्रेमारूपा भक्ति स्वयं में साधन है और स्वयं में ही सिद्धि भी। अन्त में देवर्षि का कथन है–इस प्रेमरूपा भक्ति का स्वरूप अनिर्वचनीय है। इसकी व्याख्या गूंगे के गुड के समान असम्भव है। स्वामी–सेवक तथा सेवा, इन त्रिविध भावों को त्याग कर नित्य दास्य–भाव व कान्ता–भाव से परमेश्वर के साथ सदैव प्रेम ही करना चाहिए। अनन्य भाव से अपने परमाराध्य प्राणेश्वर में अखण्ड अनुराग ही उनकी कृपा का भाजन बनने का एकमात्र उपाय है। किन्तु यह अखण्ड अनुराग किसी योग्य पात्र में ही प्रकाशित होता है क्योंकि यह गुणरहित, कामनारहित है; जिसके हृदय में उदय होता है उसमें प्रतिपल बढ़ता ही रहता है। यह विच्छेदरहित, सूक्ष्मातिसूक्ष्मतर तथा अनुभव रूप है।

भक्ति के दो भेद हैं–गौणी और पराभक्ति। पराभक्ति प्रेमरूपा है और गौणी भक्ति के आगे तीन प्रकार हैं, जिसे आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी के रूप में जाना जाता है। गीता में भी भगवान् ने इसका उल्लेख किया है। गौणी भक्ति का आश्रय

लेने वाला भी कालान्तर में प्रेमाभक्ति का भाजन बन जाता है। इतिहास में ऐसे अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। देवर्षि का कथन है कि यदि साधक एकाएक प्रेमाभक्ति का पथिक नहीं हो पाता तो उसे गौणी भक्ति का ही अवलम्बन ले लेना चाहिए। भक्ति मार्ग में कुछ अवश्य करणीय उपाय हैं और कुछ अवश्यमेव त्याज्य तत्त्व हैं। उनमें करणीय उपाय क्या हैं, उसके लिए देवर्षि का कथन है – भक्त को चाहिए कि वह भगवत् प्रेम तथा भक्ति से सम्बन्धित शास्त्रों का ही अध्ययन, मनन, चिन्तन करे और भगवत् अनुराग की वृद्धि में जो सहायक हों, ऐसे ही कर्मों का अनुष्ठान करे। सुख–दुःख, इच्छा–लाभ आदि का त्याग कर प्रतिपल प्रभु का सुमिरन करता रहे। अहिंसा, सत्य, बाहर–भीतर की शुद्धि, दया तथा परमात्मा में अनन्यनिष्ठा व आस्तिकभाव से युक्त हो सदाचार का पालन करता रहे और सदा सर्वभाव से निश्चिन्त हो भगवान् के सुमिरन तथा उनकी सेवा में ही निरत रहे। प्रभु के दिव्य गुणों का गान करते हुए भावविभोर हो उनके पवित्र नामों का संकीर्तन भी करना चाहिए ; इससे भक्त शीघ्र प्रभु के प्रेम का पात्र बन जाता है।

भक्ति की साधना में जो त्याज्य तत्त्व हैं उन सब में सर्वप्रथम कुसंग का त्याग, जाति, विद्या, रूप, कुल, धन तथा शुभ कर्म के अभिमान का त्याग और उन सबसे महत्वपूर्ण है–सब प्रकार के वाद–विवाद का त्याग। देवर्षि का निर्देश है **वायो नावलम्ब्यः** क्योंकि इससे समय नष्ट होने के सिवा और कुछ लाभ नहीं होता। साधक को चाहिए कि वह स्त्री, धन, नास्तिक और भक्ति के विरोधी व्यक्ति व वस्तुओं की चर्चा कभी न करे और किसी से भी न सुने। अभिमान तथा दम्भ इन दोनों से सदैव दूर रहे। अपने सम्पूर्ण आचार–विचार प्रभु को समर्पित कर देने पर यदि काम, क्रोध, अभिमान आदि जीवन में आ जाए, उसे भी प्रभु के साथ ही सम्बन्धित कर दे। इस प्रकार से देवर्षि के बताए हुए मार्ग का अवलम्बन ले साधक यदि प्रभु की प्रेमाभक्ति की लालसा लिए हुए प्रयत्न करता रहे तो वह अवश्य ही प्रभु–प्रेम का पात्र बन जाएगा।

भगवत् अनुग्रह से ही जीव के जीवत्व का अन्त सम्भव है, उसके अपने प्रयत्न से नहीं। अनादि अविद्या ग्रसित जीव शिव के प्रति समर्पित होने के सिवाय अन्य कोई ऐसा उपाय नहीं कर सका जिससे की वह इस त्रिगुणमयी माया के दुस्तर प्रवाह से पार जा सके। कर्म, उपासना, ज्ञान, योग आदि सभी प्रकार के साधन प्रभुकृपा प्रसाद के बिना सिद्धिदाता नहीं हो सकते क्योंकि इन सभी साधनों

के मूल में जीव का कर्तृत्व अभिमान ही हेतु होता है और यह अभिमान ही जन्म–मृत्यु का मूल हेतु है, नाना प्रकार के शूलों को उत्पन्न करने वाला है। इस अभिमान का नाश नहीं होता। अतः इसका सर्वभाव से प्रभु में समर्पण कर एकमात्र प्रभु का होकर प्रभु के चिन्तन के साथ उनमें अखण्ड अनुराग ही जीव के कल्याण में हेतु बनता है, यही देवर्षि का इस भक्ति शास्त्र के माध्यम से दिया हुआ मानव के लिए अमर संदेश है।

मन्त्रयोग और उसकी विधि

मनुष्य के पुरुषार्थ का प्रयोजन है, दुखः की अत्यन्त निवृत्ति। जिन उपायों से मनुष्य दुःख के कारणों का उन्मूलन कर सदा के लिए दुःख से छुटकारा पा जाता है, वही उसके लिए करणीय कर्त्तव्य–कार्य कहा गया है। शास्त्र का कथन है, अज्ञान ही दुःख में कारण है, अतः उसकी निवृत्ति ज्ञान द्वारा ही सम्भव है। किन्तु बुद्धि की अशुद्धावस्था में ज्ञान का उदय होना सम्भव नहीं, इसलिए बुद्धि को विशुद्ध करने वाले योग का आश्रय लेना अति आवश्यक बताया गया है। योगशिखोपनिषद् का कथन है –

योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीह भो।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि।।

(१/३)

अर्थात् योग के बिना मोक्ष का दाता ज्ञान कैसे हो सकता है ? और योग भी ज्ञान से रहित होने पर मोक्ष प्रदान करने में सक्षम नहीं। इसलिए उपनिषद् कहती है:–

तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत्।

मुमुक्षु को चाहिए कि वह ज्ञान और योग का साथ–साथ अभ्यास करे। अभिप्राय यह कि गुरु तथा शास्त्रगम्य ज्ञान के प्रकाश में उनके द्वारा बताई गई विधि के अनुसार योग का अभ्यास करे और साथ–साथ लक्ष्य रूप परमात्मा में चित्त को एकाग्र करे, उसमें स्थित होने का प्रयत्न करे। यह याद रहे कि योग से ज्ञान और ज्ञान से ही योग की सिद्धि होती है। यदि परमात्मा के यथार्थ स्वरूप का बोध नहीं होगा तो चित्तगत चेतना व चित्त शक्ति को परम चैतन्यघन ब्रह्म में प्रतिष्ठित करने का अभ्यास ही नहीं हो सकेगा जो कि योग साधना का परम लक्ष्य है और चित्त शुद्धि के अभाव में परमात्मस्वरूप का बोध होना सर्वथा असम्भव है। वह चित्त शुद्धि योग द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है, अन्य कोई उपाय नहीं। इसलिए उपनिषद् कहती है–योग ओर ज्ञान का साथ–साथ अभ्यास करना चाहिए, तभी

मुमुक्षु को मोक्ष की सिद्धि प्राप्त हो सकती है अन्यथा नहीं। योगतत्त्वोपनिषद् में योग की चार विधियां बताई गई हैं जिनका क्रमशः मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग तथा राजयोग के नाम से उल्लेख किया जाता है। मेरे विचार से मन्त्रयोग की साधना लययोग की सिद्धि में सहायक होती है अर्थात् बिना मन्त्रयोग के लययोग सिद्ध नहीं हो सकता। उसी प्रकार से हठयोग राजयोग का सहायक है। हठयोग बहिरंग साधन है तथा राजयोग उसका अन्तरंग। यहां पर मैं साधकों के लिए मन्त्रयोग तथा लययोग के सम्बन्ध में विशेष चर्चा करूंगा क्योंकि इस साधना के अधिकारी सभी परिस्थितियों एवं अवस्थाओं में रहने वाले मानव हैं।

मन्त्रयोग की साधना का प्रारम्भ–मन्त्रसिद्ध सद्गुरु की शरण ग्रहण करके उनसे अपनी अभिरुचि के अनुसार इष्टदेव का मन्त्र ग्रहण करें और जितने अक्षर का मन्त्र हो उतने हजार नित्य–प्रति जाप करें। इस प्रकार से एक सौ आठ दिन में वह मन्त्र उतने लाख जाप का हो जाता है। अक्षर के अनुसार उतने ही लाख उस मन्त्र का जप करने से एक पुरश्चरण पूरा होता है।

जप की विधि :– जापक को चाहिए कि वह अपने इष्टदेव के समक्ष ह्रदय से करबद्ध प्रार्थना करते हुए मन्त्र के अनुष्ठान का व्रत ले और उससे निर्विघ्न पूर्ण होने की याचना करे। इस अनुष्ठान में फलाहार व एकाहार लेने की विधि है। एकाहार में एक अन्न–जिसमें गेहूं, चावल व मूंग, ग्रीष्मकाल में जौं भी ग्रहण किया जा सकता है। दिन में एक बार अन्न सेवन करने का नियम लेवे। इस अनुष्ठान में नमक सर्वथा वर्जित है। बिना नमक की सब्जी व दूध के साथ गेहूं व जौं की रोटी एक बार लिया करें। यदि स्वास्थ्य के लिए विपरीत न हो तो एक सौ आठ दिन तक गौ के दुग्ध में चावल की खीर एक बार सेवन करने का नियम लें। इसी प्रकार से जौं व गेंहू का दलिया भी दूध में पका कर एक बार लिया जा सकता है। मूंग की दाल व साबुत मूंग को भी पका कर दिन में एक बार एक सौ आठ दिन तक लिया जा सकता है। मूंग व मूंग की दाल का सेवन करने के लिए उसका हलवा बना कर खाने का विधान है। याद रहे कि जो भी अन्न लेना प्रारम्भ करें, एक सौ आठ दिन वही लेवें, उसमें परिवर्तन न करें। अभ्यासी को चाहिए कि वह दिन में दो बार सुबह–शाम गौ–दुग्ध का सेवन करे और गोघृत का भी साथ में सोंठ का सेवन करना भी आवश्यक है, छः माशे नित्य दूध के साथ, इससे वायु विकार नहीं होता।

भोजन के साथ ही शयन का भी निश्चित समय होना चाहिए। साधक को दिन में कभी भी नहीं सोना चाहिए। रात्रि में भी चार घंटे से अधिक सोना उचित नहीं। पलंग आदि पर सोना भी वर्जित है। ज़मीन पर नीचे बिस्तर लगाकर सोना उचित है। यदि साधक अन्न न लेकर एक सौ आठ दिन तक फल और दूध का सेवन करता है तो वह भी उसके लिए उपयोगी होगा। मौसम का फल ही स्वास्थ्य के लिए अधिक उपयोगी होता है और साथ में गो–दुग्ध।

आहार और निद्रा के संयमन के साथ ही वाणी का संयम भी परमावश्यक है। साधन काल में यदि पूर्णतया मौन रहने की सुविधा हो तो वह सर्वश्रेष्ठ है अन्यथा साधक को चाहिए कि वह अधिक से अधिक मौन रहने का अभ्यास करे। अति आवश्यक होने पर ही उसे बोलना चाहिए क्योंकि मौन रहने से जन–संसर्ग स्वतः ही समाप्त हो जाता है। यह भी सम्भव न हो तो वह दिन में कुछ घण्टों के मौन का अभ्यास करे। साथ ही सप्ताह में एक दिन पूर्णतया मौन रहने का नियम ले। अनुष्ठान काल में जितने अक्षर का मन्त्र हो उतने हज़ार तो माला के साथ जप करना ही होता है, साथ ही मौन के समय भी अर्थ चिन्तन के साथ मानसिक जप करते रहना चाहिए। इससे इस योग की सिद्धि में अधिक सहायता मिलती है। अनुष्ठान काल में एक जगह, एक ही स्थान पर और एक निश्चित समय ही वहां पर बैठकर जाप का अभ्यास करना चाहिए। अभ्यासी को चाहिए कि वह अनुष्ठान काल में अधिक लोगों से सम्पर्क न करे। अपवित्र कर्म तथा अभक्ष्य भक्षण करने वाले व्यक्तियों से तो सर्वथा दूर रहे। यह बात याद रहे कि साधन काल में साधक का चित्त साधना के प्रभाव से शुद्ध और सुकोमल हो जाता है, इसलिए बाह्य संसर्ग का उस पर बहुत ही शीघ्र प्रभाव पड़ता है, चाहे वह अच्छा हो वा बुरा। इसलिए मन्त्रयोग का अनुष्ठाता यदि सद्गुरु वा किसी सन्तपुरुष के सत्संग व सान्निध्य में रहकर अभ्यास करे तो उसे अधिक लाभ प्राप्त हो सकता है। मन्त्र का एक सौ आठ दिन जाप करने के पश्चात यदि सम्भव हो तो उसका दशांश हवन कर ले; अन्यथा दशांश और जाप कर लेना चाहिए, इससे उस विधि की पूर्ति हो जाती है। पुरश्चरण के अनुष्ठान से साधक के चित्त की शुद्धि होती है और उसमें मन्त्र के अर्थतत्त्व का प्रकाश हो जाता है। ऐसा यदि एक पुरश्चरण में न हो तो साधक को चाहिए कि वह इसी प्रकार से दो, तीन व चार पुरश्चरण का अनुष्ठान करे। इस प्रकार उसे अवश्य ही सिद्धि प्राप्त होगी।

जप की विधि :— जाप तीन प्रकार से किया जाता है जिसे मानसिक, उपाशु तथा वाचिक कहते हैं। इनमें पुरश्चरण के अनुष्ठान में मानसिक जप की ही महत्ता है। वाचिक जप वह है जिसे जापक बोलता हुआ करता है। उपांशु जप में जापक कण्ठ से बहुत धीरे—धीरे मन्त्र को बोलता है जिसे केवल वही सुन पाता है। मानसिक जप अर्थचिन्तन के साथ मन से ही किया जाता है। उसमें जिह्वा सर्वथा स्थिर रहती है। यदि साधक उस अवस्था में जिह्वा को तालु से लगा कर स्थिर रखे तो विशेष लाभ होता है। किसी भी प्रकार के जप के साथ मन्त्र के अर्थरूप इष्टदेव के गुण, स्वभाव, स्वरूप व लीला का चिन्तन, स्मरण अवश्य करते रहना चाहिए। इससे साधक की चेतना अपने इष्ट में अवस्थित हो जाती है। पुरश्चरण के अनुष्ठान से मन्त्र के अर्थ में चित्त की अनुरक्ति हो जाने पर ही आगे लययोग की साधना प्रारम्भ होती है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि मन्त्रयोग के अनुष्ठान से जब चित्त निर्मल वा वासनारूप काशाय से रहित होकर शुद्ध हो जाता है तब उसमें मन्त्रार्थ रूप इष्टदेव के दिव्य प्रकाश का अवतरण होता है। यहां पर मन्त्रयोग का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है और लययोग की साधना प्रारम्भ हो जाती है। मन्त्र के अर्थ में चित्त का निरत रहना ही लय कहा जाता है और इसके सतत अभ्यास को ही लययोग कहते हैं। अपने सीमित अहं को अथवा जीवात्म भाव को परमात्मा में पूर्णतया विलीन कर देना ही लययोग का प्रयोजन है। जपयोग के अभ्यास से जापक में ऐसी सामर्थ्य आ जाती है कि वह अपनी सीमित चेतना को अनन्त चैतन्यघन में विलीन कर उससे एकत्व की अनुभूति कर सके।

जापक यदि श्वास के साथ मानसिक जाप का अभ्यास करे तो धीरे—धीरे प्राण की ऊर्ध्वगति हो जाती है और साथ ही शरीर के प्रत्येक अंग में वह मन्त्र गूंजने लगता है। प्राण की ऊर्ध्वगति होने पर चेतना की भी स्वतः ऊर्ध्वगति हो जाती है और चेतना शरीर के अन्नमय कोष से प्राणमय कोष और वहां से मनोमय कोष में केन्द्रित हो कर शनैः—शनैः विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोष में जाकर अवस्थित हो जाती है। श्वास के साथ मन्त्र का जाप करने वाला जापक इसका प्रत्यक्ष अनुभव करता है कि उसकी चेतना शरीर के अधोभाग अर्थात् मूलाधार से उत्थित हो क्रमशः स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत और विशुद्ध चक्र को पार करती हुई मूर्धा की ओर प्रयाण कर रही है और एक दिन वह ब्रह्मचक्र में जाकर प्रतिष्ठित हो जाती

है। यह याद रखना चाहिए कि शरीरगत चेतना का प्रवाह ब्रह्मचक्र से ही प्रारम्भ होता है। परम चैतन्यघन परमात्मा की सूक्ष्मतम दिव्य ज्योति ब्रह्मचक्र में ही प्रकाशित होती है। वहीं से चेतना का आविर्भाव होता है, जो अधोमुखी हो सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा विभिन्न केन्द्रों में होती हुई मूलाधार और वहां से पांव के अंगूठों तक पहुंच जाती है। चेतना द्वारा प्रकाशित होने पर ही हमारी इन्द्रियां अपने विषयों को जानने तथा ग्रहण करने में सक्षम होती हैं। इस चेतना के परिणामस्वरूप ही व्यक्ति चित्त के कार्यरूप अहं, मन, इन्द्रियां, शरीर तथा संसार में तादात्म्य स्थापित कर उनमें आसक्त और आबद्ध हो जाता है। अतः चेतना जहां से प्रवाहित हो रही है, इसके प्रवाह की दिशा को परिवर्तित कर अथवा मोड़कर इसको समेटते हुए उसके मूल केन्द्र में केन्द्रित कर देना ही योगाभ्यास का प्रयोजन है। प्राण, मन्त्र और मन के समन्वय से यह कार्य सुगमता से सम्पन्न हो जाता है। प्राण के साथ मन्त्र का जाप और मन से उसके अर्थ का चिन्तन और उसमें निरत होने का अभ्यास, यह एक सर्वोत्तम विधि है जिसका अवलम्बन ले साधक अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सक्षम होता है। जिस प्रकार हठयोग राजयोग का बहिरंग साधन है उसी प्रकार से मन्त्रयोग भी लययोग का बहिरंग साधन है। साधक को यह सदैव ध्यान रखना चाहिए कि मन्त्रयोग का अभ्यास करते समय उसके समक्ष कई प्रकार के दिव्य, अद्भुत स्वरूप व दृश्य आ उपस्थित होंगे, कई प्रकार की सिद्धियां भी आ जाएंगी। यदि उनमें ही रस लेने लगेगा तो वह इसके लक्ष्य रूप लययोग की सिद्धि से सर्वथा वंचित हो जाएगा। अतः साधक को चाहिए कि वह इस प्रकार की घटित होने वाली अद्भुत घटनाओं की कभी भी किसी से चर्चा तक भी न करे और न उनकी तरफ विशेष ध्यान ही दे। यदि किसी प्रकार का असम्भव व कठिन कार्य उसकी उपस्थिति मात्र वा उसके माध्यम से सम्भव हो जाय तो उसे अपने इष्टदेव की कृपा मात्र समझ कर उसके और अधिक चिन्तन तथा ध्यान में प्रवृत्त हो धीरे-धीरे अभ्यास के साथ मन्त्र के अर्थ में साधक के चित्त की अनुरक्ति हो जाती है और उसे सर्वत्र उस अर्थ का अनुभव होने लगता है, यही जप की सिद्धि है। इस सिद्धि में जापक और जाप्य दोनों का भेद बना रहता है। जब तक भेद बना है तब तक अन्तिम व परम सिद्धि की प्राप्ति नहीं ; अतः साधक को सदैव अपने सीमित अहं को अपने इष्टदेव परमात्मा की असीम सत्ता में विलीन कर उसमें अभिन्न रूप में स्थित होने का ही अभ्यास करते रहना चाहिए। दूसरे शब्दों में इसे

यूं भी कहा जा सकता है कि जीव को मन्त्रयोग के द्वारा शिव के स्वरूप का साक्षात्कार होता है और लययोग के द्वारा जीवत्व को शिव में पूर्णतया विलीन कर सदा के लिए शिव सायुज्य की सिद्धि प्राप्त हो जाती है। अतः मन्त्रयोग की साधना के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा गया है, वह अनुभूत सत्य है। विश्वास है कि जिज्ञासु साधक इसमें बताई हुई विधि का अवलम्बन ले स्वयं की साधना को सार्थक बना लेंगे। यदि किसी भी प्रकार की इस सम्बन्ध में और भी जानकारी की जिज्ञासा हो तो पत्राचार द्वारा वा मिलकर अपनी जिज्ञासा को पूर्ण कर सकते हैं। यहां पर एक बात और ध्यान रखनी है कि केवल पुस्तक से पढ़कर किसी मन्त्र का अनुष्ठान नहीं करना चाहिए। गुरुप्रदत्त शब्द को मन्त्र कहा जाता है। मन्त्रयोग की साधना में मन्त्र बहुत लम्बा नहीं होना चाहिए। जितना छोटा होगा, अभ्यास में उतनी ही सुविधा एवं गति होगी। मन्त्रयोग की साधना मन्द अधिकरी को भी लययोग की उच्चतम भूमिका में पहुंचा देती है और इसमें किसी भी प्रकार की हानि वा विघ्न की आशंका नहीं रहती, यह सभी के लिए सुगम और सुलभतम साधन है।

गायत्री का तात्त्विक विश्लेषण

सनातन धर्म का आधार वेद है। वेद किसी ऋषि की वाणी नहीं है, वेद परमात्मा का ज्ञान है। वेद अनेकों ऋषियों के अनुसन्धान का फल है। जिन ऋषियों ने वेद विज्ञान का अनुसन्धान किया, ज्ञानानुसन्धान किया, उन्होंने माध्यम जो चुना था वह है गायत्री मन्त्र जिसको वेद की मां कहते हैं। कोई भी ऐसा महापुरुष नहीं हुआ जिसकी कोई मां न हो। कोई पिता न हो ऐसा भी कोई नहीं हुआ है। लेकिन ईसाई भाई कहते हैं कि जीसस का कोई पिता नहीं था, परमात्मा ही उसका पिता था लेकिन उन्होंने मां को निराकार नहीं बताया। जिसका पिता परमात्मा है उसकी भी मां है साकार रूप में। उसको मरियम कहते हैं। आप लोग अच्छी प्रकार जानते हैं कि बिना मां के सन्तान की कल्पना नहीं की जा सकती। ज्ञान सन्तान है। ज्ञान रूपी सन्तान की मां या वेद की मां गायत्री है। अब मैं आप लोगों को उस गायत्री के विषय में कुछ बातें समझाऊंगा। हमारे यहां वैदिक धर्म की प्रक्रिया में गायत्री से श्रेष्ठ और कोई उपासना नहीं बताई गई। प्राचीन काल में जब बालक पांच वर्ष की आयु का होता था तो उसे गुरुकुल में प्रवेश मिलता था और वह गुरुकुल में प्रवेश प्राप्त करने के पश्चात द्विज संज्ञा को प्राप्त होता था। द्विज माने दुबारा जन्म लेने वाला। द्विज कोई जाति नहीं है। पहला जन्म हुआ माता–पिता से। माता के रज और पिता के वीर्य से मिलकर उस बच्चे के शरीर को आकृति दी, उससे सन्तान पैदा हुई। यह उसका प्राकृतिक जन्म है।

हमारे यहां दर्शन शास्त्र का यह नियम है कि जो वस्तु प्राकृतिक है उसको यदि संस्कृत न किया जाय तो वह वस्तु विकृत हो जायेगी। प्राकृत की पूजा नहीं है, पूजा हमेशा संस्कृत की होती है। संस्कृत ही पूज्य है, संस्कृत ही आराध्य है, संस्कृत ही वर्ण्य है, संस्कृत को ही शिव कहते हैं। सत्य तो प्राकृत भी है परन्तु प्राकृत शिव नहीं है। प्राकृत को जब हम संस्कृत करते हैं तब वह शिव बनता है और जब शिव बन जाता है तो आगे चलकर वह सुन्दर भी बन जाता है। सौन्दर्य और शिवत्व की अभिव्यक्ति उस सत्य में तब होती है जब उसे संस्कृत किया जाता है। इसी रूप से मनुष्य प्राकृत प्राणी है, प्राकृतिक ढंग से वह पैदा

हो गया, पैदा होने के पश्चात अब उसे संस्कृत करना हो तो क्या करेंगे ? अब गुरुकुल में गुरु के पास जाये, वहां पर आचार्य पिता होगा, सावित्री उसकी मां होगी। सावित्री मां और आचार्य पिता के द्वारा अब उसमें मनुष्यता का जन्म होगा। किसका जन्म होगा? मनुष्य का ? नहीं, मनुष्य तो उसकी आकृति है ही लेकिन मनुष्य में मनुष्यता का जो जन्म है वह दीक्षा द्वारा होता है और दीक्षित व्यक्ति की ही द्विजाति संज्ञा है। जो द्विजाति संज्ञा है उसमें क्या है ? सावित्री की उपासना का विधान; गायत्री की उपासना का विधान।

गायत्री किसे कहते हैं ? गायत्री शब्द का निर्वचन किया गया है **"गायन्तं त्रायते इति गायत्री"** जो अपने गायन करने वाले की रक्षा करे उसे गायत्री कहते हैं। गायत्री मां है, गायत्री देवी है, गायत्री पराविद्या है, गायत्री ब्रह्मविद्या है, उसकी आराधना करते हैं। उसकी आराधना से ही मनुष्य प्राकृत से संस्कृत बनता है। गायत्री में तीन तत्त्व हैं। गायत्री त्रिपदा है। गायत्री छन्द है। वेद में सहस्रों गायत्री छन्द हैं लेकिन जिस गायत्री की कहानी मैं आप लोगों को सुना रहा हूँ, वह आपका सम्बन्ध सीधा ब्रह्म के साथ जोड़ देती है, वह ज्ञान की जननी है। उस ब्रह्म गायत्री की बड़ी महिमा है। हमारे यहां जितनी उसकी महिमा है, मान्यता है, अन्य किसी मन्त्र की नहीं है। ब्रह्म गायत्री को मन्त्रराज भी कहते हैं। उस गायत्री में तीन चरण हैं –

तत्सवितुर्वरेण्यं, भर्गो देवस्य धीमहि,धियो यो नः प्रचोदयात्।

इन तीनों में तीन प्रकार की साधना निहित है। हमारे यहां तीन प्रकार के ज्ञान प्राप्ति के साधन बताये गये हैं–सबसे पहले स्तुति, उसके बाद उपासना, उसके बाद प्रार्थना। यह बात हमेशा ध्यान में रखें कि इन तीनों के बिना दुनिया में कोई ऐसा नहीं हुआ जिसको ज्ञान प्राप्त हुआ हो। स्तुति, उपासना और प्रार्थना इन तीनों में भेद क्या है ? स्तुति उसे कहते हैं, जिसमें हम अपने इष्ट की महिमा का गान करते हैं, उसके बाद उपासना आती है, उपासना में हम अपने इष्ट के निकट जाकर बैठ जाते हैं। 'उप' माने समीप 'आसन' माने स्थिति। समीप में स्थिति या निकट बैठना। जिसकी स्तुति करेंगे स्वभावतः हमारा मन उसके नज़दीक पहुंच जायेगा। मैंने बताया था कि जहां हमारा मन है वहीं हम पहुंच जाते हैं। गीता के सत्रहवें अध्याय में भगवान् ने कहा है –**'यो यच्छ्रद्धः स एव सः'**। जहां जैसी जिसकी श्रद्धा है वही वह है –**'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो'** (१७/३)। यह

पुरुष श्रद्धामय है। जब हम अपने इष्ट का चिन्तन करते हैं, हम अपने इष्ट के निकट पहुंच जाते हैं तो इसे उपासना कहते हैं। जब हम उसके निकट पहुंच गये तो हम उससे प्रार्थना करते हैं। प्रार्थना बहुत निकट से होती है, प्रार्थना बहुत धीरे से होती हैं, प्रार्थना चिल्लाकर नहीं होती। एक बात और याद रखना, प्रार्थनायें रटी नहीं जाती हैं। बहुत से लोग मन्त्र, श्लोक या चौपाइयां रट कर किसी देवता के सामने कहते हैं, वह प्रार्थना नहीं, स्तुति है। प्रार्थना तो हृदय की पुकार है। गायत्री मन्त्र एक ऐसा महामन्त्र है जिसमें एक में ही ये तीनों बातें निहित हैं। स्तुति पहले चरण में, उपासना दूसरे चरण में और प्रार्थना तीसरे चरण में है।

ऋषियों ने स्तुति को बहुत ही महत्त्व दिया है और उस स्तुति के नाते ही हमारे यहां वैदिक संहिता का एक भाग ही अलग कर दिया गया और उसका नाम रखा गया सामवेद। सामवेद क्या है ? उद्‌गाता द्वारा गान करने के लिए मन्त्रों का संकलन। उसमें उद्‌गाता दिव्य शक्तियों की स्तुति करता है, उनके गुणों का, उनकी महिमा का बखान् करता है। उसके कार्य और कारणों के प्रभाव की व्याख्या करता है। यही सब कुछ स्तुति में है। अपने इष्ट के गुण का वर्णन करें। उसकी महिमा, शौर्य, वीर्य, उदारता, कृपालुता का बखान करें, वह स्तुति है। तुलसीदास जी ने अपनी विनयपत्रिका में कहा है, "हे प्रभो! जब मैं यह सोचता हूं कि आप ब्रह्मा, विष्णु, महेश के भी कारण हैं, आप परब्रह्म परमात्मा हैं तो मेरा हृदय कांप जाता है, कहां आप, कहां मैं तुच्छ जीव। हमारा आपका क्या सम्बन्ध हो सकता है ? लेकिन जब मैं सोचता हूं कि –

ठाकुर अतिहि बड़ो सील सनेह सरल सुठि।
ध्यान अगम शिवहूं भेट्‌यो केवट उठि।।

"मेरे प्रभु महान् हैं। वे ध्यान में तो शिव को भी अगम हैं। प्रभु की महत्ता को समझ और अपनी लघुता को देख अधीर हो जाता हूं किन्तु जब सुनता हूं कि वही राम निषाद् को भी गले लगाने वाले हैं, दौड़ कर शबरी के फल खाते हैं, वही राम गीध को भी गोद में उठाकर विलाप करते हैं और कहते हैं उसे –

तनु तजि तात जाउ मम धामा। देउँ काह तुम पूरन कामा।।

तो कुछ धैर्य बंधता है और प्रभु की शरण में आने का साहस हो जाता है।" इस प्रकार गीध, शिला, शबरी की कथाओं का चिन्तन करने का अभिप्राय केवल यह है कि हम अपने स्वामी की करुणा को भी ध्यान में रखें। जहां उनकी

महत्ता को ध्यान में रखते हैं –

हरिहिं हरिता, विधिहिं बिधिता सिवहिं सिविता जो दई।
सोइ जानकी–पति मधुर मूरति, मोदमय मंगलमई।।
(वि० पत्रिका १३५/३)

वही करुणानिधान श्रीजानकीपति इतने उदार हैं, इतने कोमल हैं कि –

ध्यान अगम सिवहूँ, भेंट्यो केवट उठि।

तुलसीदास जी ने विनय पत्रिका में प्रभु की महत्ता, अपनी लघुता का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है –

प्रभु की बड़ाई बड़ी, आपनी छोटाई छोटी,
प्रभु की पुनीतता, आपनी पाप–पीनता।
दुहू ओ समुझि सकुचि सहमत मन,
सनमुख होत सुनि स्वामी–समीचीनता।।
(वि० पत्रिका २६२)

प्रभु की महत्ता, अपनी लघुता जब दोनों ओर मैं देखता हूं तो ह्रदय कांप जाता है परन्तु साथ ही ह्रदय में बल भी आता है, घबराओ नहीं तुम अजामिल से तो अच्छे हो। स्वयं को ढांढस बंधाते हुए कहते हैं–

अपराध अगाधभय जन ते, अपने उर आनत नाहिन जू।
गणिका गज गीध अजामिल के, गणि पातक पुंज सिराहिं न जू।।
लिएं बारक नाम सुधामु दिये, जेहि धाम महामुनि जाहिं न जू।
तुलसी भजु दीनदयालहिं रे, रघुनाथ अनाथहिं दाहिन जू।।
(कवितावली ३०/७)

प्रभु की महिमा का चिन्तन करते हैं तो ह्रदय में उत्साह होता है। प्रभु बड़े ही नहीं हैं दयालु भी हैं। बाप कितना भी महान् क्यों न हो बच्चे के लिए तो बाप है। तुलसीदास जी कहते हैं कि मेरे प्रभु तो महान् त्रिलोकीनाथ हैं। इसीलिए ऋषियों ने गायत्री मन्त्र के साथ तीन व्याहृतियां लगा दी – भूः, भुवः और स्वः। ये तीनों ही रहस्यमय शब्द हैं। भूः शब्द का अर्थ पृथ्वी, भुवः शब्द का अर्थ है आन्तरिक्ष और स्वः शब्द का अर्थ दिवि लोक है। पृथ्वी के आकर्षण शक्ति की सीमा जहां तक है उस सीमा तक को भूः लोक कहते हैं। जहां पृथ्वी की आकर्षण शक्ति समाप्त होती है उसके परे और जहां से सूर्य की आकर्षण शक्ति प्रारम्भ होती है

उसके बीच का जो भाग है उसे भुवः अर्थात् अन्तरिक्ष कहते हैं और जहां से सूर्य की आकर्षण शक्ति प्रारम्भ होती है वहां से लेकर सूर्य के दिव्य धाम तक उसको स्वः लोक कहते हैं। ये तीन लोक हैं। इनको त्रिलोकी भी कहा जाता है। इसी त्रिलोकी को भूः भूवः और स्वः कहते हैं। इतना ही नहीं हमारे यहां बताया गया है त्रिविध अग्नियां हैं, भूः की अग्नि एक सामान्य अग्नि है जिसका हम–आप प्रयोग करते हैं। भुवः की अग्नि विद्युत है, जिसे अन्तरिक्ष की अग्नि कहते हैं। स्वः की अग्नि साक्षात् सूर्य है, वह सूर्य स्वयं अग्नि है। अन्तरिक्ष और भूः का वही कारण है। वेद कहता है अन्तरिक्ष का भी वही कारण है। जितने सूर्य के सदस्य हैं वे अन्तरिक्ष में निवास करते हैं। भूः का आधार भी सूर्य है, भुवः में जो अग्नि है उसका प्राण भी सूर्य है, अन्तरिक्ष में जो अग्नि है उसकी आत्मा भी सूर्य है। इन तीनों का बड़ा विस्तार है। उपनिषदों में इसकी बड़ी लम्बी व्याख्या की गई है। सरल रूप में आप इतना समझें, जहां तक सृष्टि का विस्तार है वह इन्हीं तीनों भागों में निहित है। वेद का एक मन्त्र है जिसमें बताया गया है –

नाभ्या आसीदन्तरिक्षंशीर्ष्णो द्यो समवर्तत।

(पुरुषसूक्त १४)

यह ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद तीनों में मन्त्र आया है। ओंकार अपने आप में त्रिमात्रक है, पंच मात्रक है, द्वादश मात्रक है। ओंकार की तीन मात्रायें हैं –अ, उ, म। इसकी पांच मात्रायें हैं और बारह मात्रायें भी हैं। वेद में यह बताया गया है कि सारा वेद ओंकार की व्याख्या है और कुछ नहीं। उपनिषदों में पढ़ते हैं विद्या दो प्रकार की है–पराविद्या, अपराविद्या। अपराविद्या में चार वेद, छः शास्त्र, उसके विस्तार के इतिहास और पुराण आदि हैं। ओंकार का जो अनुसन्धान है वह पराविद्या है। पराविद्या क्या है–एक ओंकार का अधिगमन, एक अक्षर का अनुसन्धान। इसी को ब्रह्मविद्या भी कहते हैं। ब्रह्मविद्या में पराविद्या और अपराविद्या दोनों का समावेष है। उपनिषद् कहती है–

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येत्।।

(कठ० १/२–१५)

नचिकेता कहता है," हे प्रभो ! मुझे उस परमतत्त्व का बोध करवा दीजिए जो परमतत्त्व सबका सार है।" यम ऋषि कहते हैं–

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति।

ये सम्पूर्ण वेद जिस तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं, जिसमें यह परम पद **'ओम इति एतत्'** वह एक ओंकार है। इस युग के महापुरुष गुरुनानक देव ने अपने अनुयायियों के लिए एक सन्देश दिया–

एक ओंकार सतनाम कर्त्ता पुरुष।

ओंकार के सिवा और कुछ नहीं है, वही विश्व रचियता है, वही परमपद है, वही सत्य है। जिसको गुरुनानक देव ने **ओम्** कहा है, उसी को तुलसी ने **राम** कहा है। तत्त्वतः राम और ओम् में कोई भेद नहीं है। कारण कि व्याकरण की दृष्टि से भी महापुरुषों ने ओम् और राम शब्द की एकता का विवेचन किया है लेकिन है वही एक परमतत्त्व। ओम् की व्याख्या में ही सारे वेदों का प्रयोजन है। वह ओम् पराविद्या का स्वरूप है। इसलिये ओम् के प्रत्येक मन्त्र के प्रारम्भ में उच्चारण करने की विधि है। भारतीय मूल के जितने सम्प्रदाय हैं उन सभी सम्प्रदायों में ओम् अपना मुख्य स्थान रखता है। बुद्धमत भी ओम् को मानता है **"ओम मणि पदमे हुम"** ओम् मूल मन्त्र है। जैन सम्प्रदाय में **ओम् णमोअरिहन्तारम्'** ओम् वहां मूल शब्द है। सिक्ख सम्प्रदाय में **'एक ओंकार'** ओम् ही सही नाम है परमात्मा का। सनातन धर्म के शैव और वैष्णव, शाक्त, गाणपत्य, सभी लोग ओम् की महिमा का गान करते हैं। ओम् सबकी आत्मां है। यह महाबीज कहा जाता है और ओम् ही समस्त ब्रह्माण्ड का मूल स्रोत है। तो मैं गायत्री मन्त्र की व्याख्या कर रहा था कि जिसमें वह परब्रह्म परमात्मा निराकार, निरीह, निरंजन ब्रह्म ओम् शब्द से अभिहित होता है और आगे वही **'ओम भूः भुवः स्वः तत्सवितुः'** जो इस पृथ्वी का तथा अन्तरिक्ष में रहने वाले जितने तारागण दिखाई दे रहे हैं, जितने ब्रह्माण्ड हैं, जो कुछ भी है, इन सबका और जो द्युलोक है, परमलोक है उसका जो स्वामी है, रचयिता है, सृष्टिकर्त्ता है, इन सबका विस्तार करने वाला है, यही सविता और सावित्री शब्द का अर्थ है।

आगे कहा गया है –**तत्सवितुर्वरेण्यं**– उस विस्तार का हम वरण करते हैं क्योंकि वही सबका आदि है, आधार है, निर्माता है, विस्तारक है, अरण्य है। **ॐ भूः भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यम्'** उस सवित् का, उस सवितृ देव का, निर्माता का, उस जगदाधार का हम वरण करते हैं। हम अपने भाव को उसके प्रति समर्पित करते हैं।

'तत्सवितुर्वरेण्यं' वह सविता कैसा है ? " **भर्गो देवस्य धीमहि**" "वह सविता प्रकाश स्वरूप है, "दुनिया में जो प्रकाश है सब उसी सवितृ का ही प्रकाश है। गीता में भी भगवान् कहते हैं –

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।

(गीता १३/१७)

"मैं तम से परे उन सम्पूर्ण ज्योतियों की ज्योति हूँ।" जिस ऋषि ने परमात्म तत्त्व का साक्षात्कार किया उसने घोषणा की –

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।।

(श्वेता० ३/८)

उस महान् पुरुष को हमने देखा है, जाना है। वह महान् पुरुष कैसा है ? वह अन्धकार वा तम से परे परम प्रकाश स्वरूप अमित प्रकाश वाला है, जो उसे जान जाएगा वही मृत्यु से मुक्त हो जायेगा, इसके लिए दूसरा कोई रास्ता नहीं है। इसी बात को ऋषि कहता है **'भर्गो देवस्य धीमहि'** उस परम प्रकाश स्वरूप परमात्मा का हम ध्यान करते हैं। ध्यान करना उपासना है। तत् **सवितुर्वरेण्यं** तक स्तुति है। **'भर्गो देवस्य धीमहि'** उस परम प्रकाश स्वरूप परमात्मा का मैं ध्यान करता हूं, यह उपासना है। पहले स्तुति एवं चिन्तन करते हुए हम उस तक पहुंच गये। अब वह हमारे सामने है, अब हम अपने चित्त को उसमें लगा रहे हैं। **'देवस्य धीमहि'** अब हम उस देव का ध्यान कर रहे हैं, उस प्रकाश स्वरूप परमात्मा की स्तुति करते हैं–

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।

(श्वेता० ६/१४)

उस परमात्मा को सूर्य प्रकाशित नहीं करता, न चन्द्र प्रकाशित करता है, न उस परमात्मा को तारागण प्रकाशित करते हैं, न विद्युत प्रकाशित कर सकती है, फिर उस अग्नि की क्या गणना है ?

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।

(श्वेता० ६/१४)

उस परमात्मा के प्रकाश से ही सारा विश्व प्रकाशित हो रहा है। उसके प्रकाश से ही अग्नि, सूर्य, चन्द्रादि सभी प्रकाशित हो रहे हैं। यही बात तुलसीदास जी ने अपनी रामायण में कही है –

जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ग्यान गुन धामू।।

(बाल काण्ड –११७)

इसलिए वेद, शास्त्र, गीता उपनिषद् में उस परमात्मा को परम प्रकाश स्वरूप बतलाया गया है। ऋषि कहता है **'भर्गो देवस्य धीमहि'** प्रकाश स्वरूप वेद का मैं ध्यान करता हूं। किस लिए ध्यान करते हो ? इसलिए नहीं कि हम उससे धन चाहते हैं। अन्य जितने मन्त्र हैं उनमें अपने लिए प्रार्थना है किन्तु ब्रह्म सावित्री स्वार्थ से ऊपर उठे हुए हृदय की प्रार्थना है इसलिए यह वेद की मां है। हिन्दू सनातन धर्म का महत्त्व इसलिए नहीं है कि उससे आप सुखी होंगे बल्कि इसलिए है कि वह आपको लोकहित में प्रेरित करता है। इसीलिए रामायण में धर्म का सार बताते हुए भगवान् ने कहा है –

परहित सरिस धर्म नाहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।।
निर्नय सकल पुरान बेद कर। कहेउं तात जानहि कोबिद नर।।

(रा० उ० ४१)

सबसे बड़ा और महान् धर्म क्या है ? प्रभु कहते हैं परहित साधन।

परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुं जग दुर्लभ कछु नाहीं।।

(रा० अरण्य० ३०)

जिनके मन में परहित रहता है उनके लिए दुनिया में कोई वस्तु दुर्लभ नहीं है।

छमामील जे पर उपकारी। ते द्विज मोहि प्रिय जथा खरारी।।

भगवान् शंकर कहते हैं कि जो परोपकारी और क्षमाशील हैं, वे द्विज मुझे श्रीहरि के समान अति प्रिय हैं। हिन्दू धर्म में जो धर्म की महत्ता है वह त्याग में है, भोग में नहीं, स्वार्थ में नहीं है। एक बार मैं एक जगह रामायण की महत्ता का गान कर.रहा था, गान करने के बाद मैंने लोगों से कहा किसी ने कोई प्रश्न करना हो तो मेरे से कर सकता है। एक सज्जन ने कहा कि मैं आपकी रामायण समझ नहीं सका। आपकी रामायण में माता–पिता की आज्ञा का बड़ा महत्त्व है। मैंने कहा, बहुत बड़ा महत्त्व है। माता–पिता की आज्ञा मानने वाला धर्मात्मा होता है किन्तु रामायण में एक ऐसा धर्मात्मा भी देखते हैं जो माता–पिता को गालियां देता

है। मैंने कहा, जी हां ! माता–पिता की आज्ञा मानने वाले राम भी धर्मात्मा और माता–पिता को गालियां देने वाले भरत भी धर्मात्मा एवं धर्मावतार हैं। वह धर्मात्मा ही नहीं उनके लिए गुरु वशिष्ठ ने यहां तक कह दिया –

समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धरम सारु जग होइहिं सोई।।

"हे भरत ! जो तुम समझोगे, कहोगे, करोगे, वही जगत् में धर्म का सार होगा। " कितना बड़ा महत्त्व दिया है उस भरत को जो मां को गालियां सुना रहा है–

बर माँगत मन भइ नहिं पीरा। गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा।।
भूप प्रतीति तोरि किमि कीन्ही। मरन काल बिधि मति हरि लीन्ही।।

(रा० अयो० १६१)

जिस भरत को धर्मावतार, धर्मात्मा कहा जा रहा है वह मां–बाप को गालियां दे रहा है। वह कहता है, समझ नहीं आया, एक मां–बाप की आज्ञा का पालन कर रहा है वह भी धर्मात्मा और दूसरा मां–बाप को गालियां दे रहा है वह भी धर्मात्मा। यह कैसा धर्म है ? इसका क्या प्रिंसीपल है ? मैंने कहा–श्रीमान जी! आप इतने उत्तेजित न हों, धैर्य से समझो।

सनातन धर्म में न तो माता–पिता की आज्ञा मानना धर्म है और न माता–पिता को गाली देना धर्म है। फिर धर्म क्या है, कौन सा धर्म है ? धर्म है त्याग। राम ने माता–पिता की आज्ञा किस लिए मानी थी जानते हो ? त्याग के लिए। मां ककैयी ने कहा –राम तुम्हें राज्य का त्याग करना है, बड़ी अच्छी बात है। यह राज्य हमने तुम्हारे छोटे भाई भरत के लिए मांग लिया है। राम कहते हैं, वाह! फिर मां मेरे से सौभाग्यशाली और कौन होगा।

भरतु प्रान प्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू।।

(रा० अयो० ४२)

आज तो विधाता सब ओर से मेरे सम्मुख हो गया है मां ! क्योंकि मेरे प्राण से प्रिय भरत को राज्य मिलेगा और हमें क्या चाहिए ?

जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा।।

(रा० अयो० ४२)

राम कहतें हैं, "मां, यदि इस महान् कार्य के लिए मैं वन न जाऊँ तो मेरे समान दूसरा मूर्ख और कौन होगा ? " राम ने त्याग किया। माता–पिता की

आज्ञा का पालन किया, माता–पिता राज्य का त्याग करने की आज्ञा न देते तो शायद राम भी उत्तर दे देते कि मैं यह काम नहीं करता। तुलसी के राम बड़े कोमल हैं। तुलसी की रामायण बड़ी आदर्श रामायण है। ज़रा वाल्मीकि रामायण देखिए–वाल्मीकि के राम क्या कहते हैं ? जो तुलसी की रामायण की कौशल्या है वह वाल्मीकि रामायण की कौशल्या से बिल्कुल भिन्न है। मैंने एक पुस्तक लिखी है '**मानस महाकाव्य में नारी**', उसमें दोनों की तुलना की है, संकेत किया है कि तुलसी ने जिस आदर्श मातृत्व की प्रतिष्ठा की कौशल्या के रूप में, वह अपने आप में अद्भुत और अद्वितीय है। तुलसी की कौशल्या समझती है –

धरम सनेह उभयँ मति घेरी। भई गति सांप छछुंदरि केरी ।।
राखउँ सुतहि करउँ अनुरोधू। धरमु जाइ अरु बंधु बिरोधू।।
कहउँ जान बन तौ बड़ि हानी। संकट सोच बिबस भइ रानी।।
(रा० अयो० ५५)

किन्तु कौशल्या अपने आप को संभालती हैं और सम्भाल कर –

बहुरि समुझि तिय धरमु सयानी। रामु भरतु दोउ सुत सम जानी।।

वह राम और भरत दोनों को समान दृष्टि से देख बड़े गर्व के साथ व्यथित हृदय से कहती है –

जाहु सुखेन बनहि बलि जाऊँ।
(रा० अयो० ५७)

लेकिन वाल्मीकि की कौशल्या ऐसी नहीं है। वाल्मीकि की कौशल्या कांपती हुई राम के चरण पकड़ लेती हैं, "राम तुम मुझे छोड़कर न जाओ, मैं तुम्हारी मां हूं।" मुझे पिता की आज्ञा तुम्हारी आज्ञा से ज्यादा माननीय है और बिलखती हुई कौशल्या को छोड़ राम वन को चल देते हैं। यदि त्याग का यहां प्रसंग न होता तो शायद राम भी ऐसी आज्ञा पालन करने के लिए तैयार न होते। राम ने मां की आज्ञा का पालन किया त्याग के लिए, भरत ने मां को गालियां दी, मात–पिता की आज्ञा का उल्लंघन किया, त्याग के लिए। हमारे यहां सनातन धर्म का सिद्धांत है कि जो लोकहित में अपने स्वार्थ का त्याग करता है, जो लोकहित में अपने सुख का सपर्मण करता है, वही व्यक्ति धर्मात्मा है। यही बात भरत ने कही थी–

मोहि राजु हठि देइहहु जबहीं। रसा रसातल जाइहि तबहीं।।
(रा० अयो० १७६)

"यदि हठपूर्वक मुझे राज दे दिया तो यह पृथ्वी रसातल में चली जाएगी।" क्योंकि यहां धर्म नाम की कोई चीज़ नहीं रहेगी। फिर हर एक व्यक्ति हठ से, कपट से, छल से, दूसरे का अधिकार भोग करने लग जाएगा। आदर्श कौन प्रतिष्ठित करेगा ? इसी बात को देवताओं ने कहा है, इसी बात को राम ने स्वीकार किया है कि भरत सामान्य नहीं हैं–

कहउँ सुभाउ सत्य सिव साखी। भरत भूमि रह राउरि राखी।।

(रा० अयो० २६४)

"यह पृथ्वी तुम्हारे रखने से रह सकती है इसलिए भरत सामान्य नहीं हैं। भरत धर्म–धुरीन हैं, धर्म–धुरी को धारण करने वाले हैं, जिस पर धर्म टिका हुआ है।" वह धर्म–धुरी क्या है ? वह है त्याग ! मैंने उन लोगों को समझाया कि सनातन धर्म का मुख्य उद्देश्य त्याग में है, चाहे आप माता–पिता की आज्ञा का उल्लंघन करके त्याग करें या माता–पिता की आज्ञा का पालन करके। जो संन्यासी बनते हैं क्या उनके माता–पिता सुख एवं प्यार से विदा करते हैं ? ऐसा नहीं होता, वह तो माता–पिता की अकांक्षाओं के विपरीत ही त्याग करते हैं तब कहीं संन्यास ग्रहण कर लोकहित का कार्य करते हैं। किन्तु समाज की स्थिति विलक्षण है ; यही सब चाहते हैं कि यहां पर शंकराचार्य पैदा हो लेकिन पड़ोसी के घर में, अपने में नहीं। अपने घर राणा प्रताप पैदा नहीं होना चाहिए। कौन है जो अपनी सन्तान को कहेगा कि वर्षों जंगल में जाकर घास की रोटी खाओ। ऐसा है कोई ? नहीं ! गुरु गोबिन्द सिंह जैसे जरूर बच्चे पैदा हों लेकिन पड़ौसी के घर में, अपने घर में नहीं। उनकी स्तुति मैं करूंगा, दण्डवत मैं करूंगा, दक्षिणा मैं दूंगा, यह स्थिति है इसलिए सनातन धर्म में त्याग की प्रतिष्ठा है। त्याग के ऊपर ही सनातन धर्म टिका हुआ है।

मैं आप लोगों को बता रहा था कि गायत्री मन्त्र की इसलिए महिमा है कि गायत्री मन्त्र शुरू से ही व्यक्ति को अपने स्वार्थ से ऊपर उठने की प्रेरणा देता है। जो प्रभु की उपासना, प्रार्थना, स्तुति है वह अपने लिए ही नहीं है। किसके लिए है ? –'**धियो यो नः प्रचोदयात्**– वह सबके लिए है। प्रकाश स्वरूप प्रभु हम सबकी बुद्धि को प्रेरित करें। 'नः' शब्द बहुवचन है, हम सब के लिए है, मेरे लिए नहीं। यदि यह प्रार्थना है कि हमारी बुद्धि को परमात्मा प्रेरित करे तो यह शंका होती है कि अभी बुद्धियों को कौन प्रेरित करता है ? इसका उत्तर है कि अभी हमारी

बुद्धि को विषय प्रेरित कर रहे हैं। गीता में कहा है –

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।

(गीता २/६०)

ये इन्द्रियां बड़ी प्रबल हैं, वे मन को खींच लेती हैं और मन सहित इन्द्रियां फिर–

तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।

जैसे वायु नाव को पानी में डुबो देती है, इसी रूप से ये बुद्धि को डूबो देती हैं। अभी तक जो लोग दुनिया के दुर्गुणों में लगे हैं, उनकी बुद्धि को विषय प्रेरित कर रहा है। उनकी बुद्धि को अनेक पदार्थ प्रेरित कर रहे हैं, जिससे वे एक दूसरे की हत्या करने पर तुले हैं। मानवता की हत्या करने वाले को अहं प्रेरित करता है, भगवान् कहां प्रेरित करता है ? जब भगवान् सब जगह है तो प्रेरित क्यों नहीं करता, अन्याय क्यों होने देता है ? तुलसीदास जी ने एक जगह लिखा है कि वह परमात्मा सम है –

जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहि न पाप पूनु गुन दोषू।।

(रा० अयो० २१६)

गीता में प्रभु कहते हैं –

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।

(गीता ६/२६)

"मैं तो सब प्राणियों में समभाव रखता हूं। हमारे लिए प्रिय–अप्रिय कोई नहीं है। जो मेरा भजन करता है मैं उनको भजता हूं"। आप लोग जानते हैं गीता के १३ वें अध्याय में भगवान् ने एक बात और बताई है। उन्होंने कहा वह परमात्मा–

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः।।

(गीता १३/२२)

वह परमात्मा उपद्रष्टा के रूप में है, केवल दर्शक है, कोई हस्ताक्षेप नहीं करता। आप कर्म करेंगे, फल प्राप्त करेंगे, वह विधान उसने बना दिया है। भगवान् आपके किसी क्रिया–कलाप में हस्तक्षेप नहीं करता है। मनुष्यता से पहले योनियों में आपके विकास की व्यवस्था सारी उसके दिव्य विधान में है। मनुष्य शरीर में आने के पश्चात आप बिल्कुल स्वतन्त्र हैं। आपको बुद्धि मिल गई है, आप उसका

सदुपयोग करें या दुरुपयोग करें, मानव जीवन में प्रभु केवल उपद्रष्टा मात्र है। इसीलिए तुलसीदास जी ने उस श्लोक के भाव को व्यक्त करते हुए कहा है–

जग पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे।।

तीनों गुणों द्वारा यह जगत नचाया जा रहा है। वह परमात्मा केवल उपद्रष्टा है। भगवान् ने स्वयं कहा है –

त कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।

(गीता ५/१४)

न किसी के कर्म का, न कर्म के फल और न कर्तृत्व का ही परमात्मा सृजन करता है। उसका दिव्य विधान है जिसको वेद में 'ऋत' कहते हैं। उस ऋत से ही इस जगत् का चक्र चलता रहता है। प्रभु हमारे जीवन में अनुमन्ता, भर्त्ता, भोक्ता तो तब बनते हैं जब हम उनकी शरण में होकर उनकी स्तुति–उपासना से उन्हें प्रसन्न करें, उनसे प्रार्थना करें कि हे प्रभो–

धियो यो नः प्रचोदयात्।

मैं आप लोगों से निवेदन कर रहा था कि अभी तक हमारी बुद्धि इन्द्रियों के द्वारा, विषयों के द्वारा, अनेक प्रकार की कामनाओं के द्वारा प्रेरित हो रही है और जैसी बुद्धि है वैसा हमारा जीवन है। इसलिए वैदिक ऋषि यह कहते हैं कि तुम प्रभु से प्रार्थना करो कि वह तुम सबकी बुद्धियों को प्रेरित करे, अकेले की बुद्धि को नहीं। यदि तुम महात्मा बन गये तो अगल–बगल जो दुरात्मा हैं वे सोने नहीं देंगे। रात को तुम को नींद नहीं आएगी। चैन से भजन नहीं कर सकते। इसलिए अपने आपको इस अवस्था में प्रतिष्ठित करो, जहां से किसी भी प्रकार के अमंगल की सम्भावना न हो। अमंगल की सम्भावना का नाश तब होगा जब तुम्हारे सारे समाज का वातावरण मंगलमय होगा। इसलिये अकेले के लिये नहीं सारे समाज के लिए प्रभु से प्रार्थना करो। "हे विश्व के विस्तारक, प्रकाशपुंज प्रभो ! हम तुम्हारा ध्यान करते हैं, तुम हमारी बुद्धि को प्रेरित करो।" यही गायत्री महामन्त्र का अर्थ है। हमें अपने जीवन में नित्यप्रति प्रभु से यही याचना करनी है।–

****

प्रणवोपासना

उपनिषद् ब्रह्मविज्ञान है, उपनिषद् जीवनविज्ञान है, उपनिषद् कर्मविज्ञान का मूल आधार है। इसे वेद में विज्ञानत्रयी कहा गया है। विज्ञानत्रयी के आधार रूप में जीवन क्या है, जीवन का कारण क्या है, जीवन का प्रयोजन क्या है, इन तीन विषयों का अनुसन्धान किया जाता है। वेदत्रयी में कर्म, उपासना और ज्ञान है तथा विज्ञानत्रयी में जीवन के कारण, जीवन के स्वरूप और जीवन के प्रयोजन--इन तीनों पर चिन्तन, मनन और अनुसन्धान किया जाता है। उपनिषद् को विज्ञानत्रयी कहते हैं। कुछ उपनिषदें ऐसी हैं जो जीवन के कारण की तलाश करती हैं, कुछ उपनिषदें जीवन के प्रयोजन का प्रतिपादन करती हैं। इसलिये उपनिषदों के ये तीन क्रम हैं और तीन क्रमों में विज्ञानत्रयी के रूप में ब्रह्मविद्या की प्रतिष्ठा है। इस ब्रह्मविद्या की मीमांसा में हम मुण्डकोपनिषद् में पढ़ते हैं--महान् विद्वान् शौनक जिन्हें **'महाशाल'** कहा गया है, महाशाल का अभिप्राय है जिसका विद्यालय बहुत वृहद् रहा हो। कुछ लोग 'शाल' का अभिप्राय विद्यालय से लेते हैं और कुछ अतिथि गृह से लेकिन शौनक का महत्त्व महाविद्यालय के नाते है, वे एक महान् विद्यालय के कुलपति थे। पुराणों में उनके उस विद्यालय का वर्णन मिलता है जिसमें ८८ हज़ार विद्यार्थी अध्ययन किया करते थे। उनका यह विद्यालय उत्तरप्रदेश के जिस स्थान पर था, उसे नैमिषारण्य कहते हैं। वहां के रहने वाले महान् आत्मा शौनक अपने गुरु चरणों में तत्त्व विज्ञान की खोज में उपस्थित होते हैं और पूछते हैं कि भगवन् ! क्या आप हमें वह तत्त्व समझायेंगे जिसे जानने के पश्चात् और कुछ जानना शेष नहीं रहता, जिसे पाने के पश्चात कुछ पाना शेष नहीं रहता ? गुरु ब्रह्मविद्या के विषय में उपदेश देते हैं। उस उपदेश में वे कहते हैं कि दो प्रकार की विद्याएँ हैं --परा और अपरा। अपरा विद्या जिसे Lower knowledge कहते हैं ; संसार की यथार्थता का अनुसंधान करके उसके प्रयोग की विधि को जानना अपरा विद्या का प्रयोजन है। परा विद्या वह है जिसमें संसार के पदार्थों का नहीं अपितु जीवन के यथार्थ स्वरूप को जानकर,

जीवन के कार्य–करण को जानकर, जीवन के प्रयोजन को जानकर उसकी पूर्ति के लिए अनुसंधान किया जाता है। उस कारण तत्त्व में अपने आप को लय करने की विधि को ग्रहण करके आगे बढ़ना, उस परा विद्या का प्रयोजन है। वहां ऋषि ने परा और अपरा दोनों विद्याओं की मीमांसा की है। अपरा विद्या में चार वेद तथा छः उसके अंगों की व्याख्या की है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद तथा जो उसके अंग हैं – कल्प, व्याकरण, ज्योतिष, छन्द शिक्षा–इनको अपरा विद्या कहा गया है।

जिसके द्वारा ब्रह्म का अनुसंधान होता है, उसे परा विद्या कहा गया है। परा विद्या ही यथार्थ में ब्रह्मविद्या है। परा विद्या का मूल आधार क्या है ? इसके लिये ऋषि कहता है कि केवल एक **'ओंकार'**। उसमें ऋषि का कथन है कि उस ओंकार का जो अनुसंधान करता है, उस ओंकार का जो आश्रय ग्रहण करता है, उस ओंकार के वाच्य रूप ब्रह्म के साथ जो अभिन्नता की अनुभूति करता है, वह परा विद्या का उपासक है। ओंकार परा विद्या का मूल तत्त्व है। परा विद्या ही उपनिषदों के नाम से प्रसिद्ध है और उसी को ब्रह्मविद्या भी कहते हैं। ब्रह्म को बताने वाली विद्या, ब्रह्म तक पहुंचाने वाली विद्या, ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप का बोध कराने वाली विद्या ही ब्रह्मविद्या है। लेकिन मैं आपको एक बात और समझा दूँ कि ब्रह्मविद्या केवल पराविद्या ही नहीं है, ब्रह्मविद्या में अपरा विद्या भी समाहित है क्योंकि जहां तक परम तत्त्व के अनुसंधान का विषय है उसके लिये जो भूमिका तैयार करनी है, अपने आपको जो योग्य बनाना है, वह अपरा विद्या से ही उपलब्ध हो सकता है अन्यथा नहीं। जैसे कि मेरा ब्रह्मज्ञान आपकी आत्मा को तो तृप्त कर सकता है परन्तु आपके पेट को तृप्त नहीं कर सकता। पेट को तृप्त करने के लिये तो भौतिक विज्ञान की जरूरत है ; इसलिये हमारे ऋषियों ने परा तथा अपरा दोनों प्रकारं की विद्याओं का पूर्ण रूप से अनुसंधान किया और दोनों की पूर्णतः प्रतिष्ठा की। उन्होंने समझाया कि परा विद्या के द्वारा जहां ब्रह्म का अनुसंधान होता है, एक अक्षर का अधिगमनं होता है, वहां अपरा विद्या के द्वारा विश्व के वैभव का पूर्ण रूप से सदुपयोग होता है, उसकें वैभव के मूल का ज्ञान होता है। इसलिए परा और अपरा दोनों विद्याएँ मानव के लिये अति आवश्यक हैं। जब तक मानव इन दोनों का साथ–साथ अनुसंधान नहीं करता, अध्ययन नहीं करता तब तक वह पूर्णत्व की अनुभूति कर लेगा, ऐसा सन्देहास्पद बना रहता है। यजुर्वेद में एक मन्त्र

है जिसमें बताया गया है कि–

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।

परा विद्या का विषय विद्या तत्त्व है और अपरा विद्या का विषय अविद्या तत्त्व है। यहां पर विद्या और अविद्या शब्द का प्रयोग मैं दूसरे अर्थ से कर रहा हूँ क्योंकि वेदों में विद्या–अविद्या का प्रयोग चेतन और प्रकृति के लिए किया गया है, पुरुष और प्रकृति के लिए किया गया है। यहां जिस अर्थ में मैं उनका प्रयोग कर रहा हूं उसे आप समझिए। अपरा विद्या का विषय अविद्या है। अविद्या माने जड़ जगत्, संसार, विश्व, समस्त देवता हैं। दिव्य शक्ति की अभिव्यक्ति के माध्यम को देवता कहते हैं। जो परमदेव है, जिसके लिये श्रुति कहती है–

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।

(श्वेता० ६/११)

एक ही देव सबमें व्याप्त है, सर्वव्यापी है, सबकी अन्तरात्मा है। उस देव के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं, वह देव अनेक देवताओं के रूप में प्रकट है। आप समझ गये होंगे–देव एक, देवता अनेक। **'देवता'** शब्द स्त्रीलिंग है इसलिये यास्काचार्य ने अपने निरुक्त में कहा है–या देवी सा दवेता, जिसे देवी कहते हैं वही देवता है। ये दोनों दो नहीं हैं। यह उस देव की शक्ति के प्रकट होने का साधन है। सूर्यो देवता, सूर्य एक देवता है। यह सूर्य उस परमात्मा की शक्ति की अभिव्यक्ति का माध्यम है, सूर्य स्वयं में परमात्मा नहीं है। इसी रूप से पृथ्वी देवता है, पृथिव्यां देवता, यजुर्वेद का मन्त्र है। पृथ्वी परमात्मा की शक्ति को प्रकट करने का माध्यम है, इसलिये वेद कहता है–**यस्य पृथिवी शरीरम्**, पृथ्वी जिसका शरीर है। जैसे आपके शरीर से आपकी आत्मा का प्रकाश हो रहा है। शरीर आत्मा नहीं है, आत्मा के प्रकाश का माध्यम है। यदि आपका शरीर न हो तो आपकी आत्मा प्रकाशित नहीं हो सकती। दुनिया में आप जहां कहीं प्रकाश दे रहे हैं, वह बिना माध्यम के नहीं हो सकता। यह बिजली भी किसी माध्यम से प्रकाशित हो रही है, माध्यम है बल्ब और आ कैसे रही है ? तार माध्यम बना हुआ है। तार न हो तो बिजली का प्रवाह नहीं आ सकता। बल्ब न हो तो प्रकाश नहीं हो सकता लेकिन बल्ब ही प्रकाश है, ऐसी मान्यता भ्रम है। तार ही बिजली है, ऐसी मान्यता भ्रम है। इसी रूप से यह शरीर ही आत्मा है, ऐसी मान्यता भ्रम है। शरीर के माध्यम से आत्मा का प्रकाश हो रहा है। जैसे शरीर के माध्यम से आत्मा का प्रकाश हो रहा है उसी रूप

से सूर्य के माध्यम से तथा चन्द्र, पृथ्वी, वायु और अन्तरिक्ष के माध्यम से उस परमात्मा की शक्ति प्रकट हो रही है। वह परमात्मा, जिसकी शक्ति इन देवताओं के रूप में प्रकट हो रही है, एक है, देवता अनेक हैं। आपको यह शंका हो सकती है कि एक देव की शक्ति अनेक देवताओं के माध्यम से भिन्न–२ रूप से कैसे प्रकट हो रही है। उदाहरण हमारे सामने है। यह पंखा कहां से चल रहा है ? यह बिजली? यह माईक..... एक ही बिजली है या अलग–२ ? हीटर लगा दो गर्मी मिल जायेगी, कूलर चला दो ठण्डी मिलेगी। बिजली तो एक ही है। एक बिजली अनेक यंत्रों के माध्यम से अनेक प्रकार का कार्य करती है, यह तो जड़ है। वह परमात्मा तो परम चैतन्य है; वह अनेक माध्यमों से अनेक प्रकार की शक्ति का सम्पादन करता है। सूर्य से तेज, चन्द्रमा से शीतलता, पृथ्वी से गन्ध, वायु से प्राण शक्ति, अन्तरिक्ष से शब्द शक्ति अनेक रूपों से आपके जीवन को अभिभूत किये हुये है। इसीलिये आपके जीवन का आधार ये देवता हैं ।

उपनिषद् में बड़ा सुन्दर प्रश्न है, देवता कितने हैं ? अनन्त। मूल देवता कितने हैं ? ३३ हैं। वे ३३ देवता कौन से हैं ? वह कहता है–११ रुद्र, १२ आदित्य, ८ वसु, १ इन्द्र, १ प्रजापति। हमारे यहां उन ३३ देवताओं को ३३ कोटि देवता बना दिया। **'कोटि'** शब्द का संस्कृत में अर्थ होता है प्रकार। ३३ प्रकार के देवता का ३३ करोड़ हो गया। उनकी संख्या ३३ करोड़ नहीं वे तो अनन्त हैं लेकिन वे हैं कहां ? कहा– इस सृष्टि में हैं। विराट् के शरीर में १२ आदित्य, ११ रुद्र, ८ वसु, इन्द्र और प्रजापति है। आपके इस शरीर में भी वही ३३ देवता हैं–१२ आदित्य आपके शरीर में हैं। आपके शरीर का क्रम १२ महीनों पर चल रहा है। सूर्य १२ राशियों पर जैसे–२ जाता है वैसे–२ आपके शरीर की वृद्धि होती है इसीलिये इसे आदित्य कहते हैं। सूर्य को आदित्य इसलिये कहते हैं कि वह आपके शरीर को धीरे–२ खाता रहता है, शेष करता है। आपका जीवन इसी चक्कर में चलता रहता है। जिस दिन पैदा हुये थे और जिस दिन 'राम नाम सत्' होगा, इन्हीं १२ महीनों में चलेंगे। ११ रुद्र हैं। रुद्र किसे कहते हैं ? कहा जिसके रहने पर आदमी रोये तथा जिसके जाने पर परिवार वाले रोयें। वे रुद्र हैं–पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां और एक मन। जब ये शरीर में रहते हैं तो तुम रोते हो और जब ये चले जायेंगे तो घर वाले रोना शुरु कर देंगे। जो रुलाये वह रुद्र है। ८ वसु प्रकृति के वे ८ आधार हैं जिस पर आप बसे हुए हो। उनकी व्याख्या

पंच महाभूत के रूप में की गई है। अष्टधा प्रकृति को यदि समझ लेंगे तो ८ वसु को समझ लेंगे। आने–जाने वाले प्राण को कहते हैं–प्रजापति और तुम्हारे शरीर में जिससे उष्णता है वह प्रजापति का पुत्र इन्द्र है। आने जाने वाला प्राण ही शरीर में उष्णता उत्पन्न करता है। ये ३३ देवता हैं और इन्होंने ही तुम्हारे जीवन को धारण कर रखा है। जैसे ३३ देवता तुम्हारे शरीर में हैं वैसे ही ३३ देवता ब्रह्माण्ड में हैं। ब्रह्माण्ड को धारण करने वाले समष्टि रूप से ३३ देवता हैं और वही अंश रूप में तुम्हारे शरीर को धारण करने वाले व्यष्टि रूप से ३३ देवता हैं। इन ३३ देवताओं के द्वारा ही तुम जीवित हो इसलिये हमारे यहां देवोपासना की बड़ी महिमा है। हम यज्ञ करते हैं ! यज्ञ का प्रयोजन क्या है ? पाणिनि कहते हैं **यज् देव पूजायाम्**–देवताओं की उपासना। इससे क्या होगा ? **यज् संगतिकरणे**– इससे शक्ति प्राप्त होगी और उस शक्ति को यदि स्वयं भोगोगे तो राक्षस बनोगो। जितने भी राक्षस हुए हैं उनकी कहानी पढ़ लो। सभी ने घोर उपासना की है। उपासना करके शक्ति प्राप्त की है परन्तु उस शक्ति का प्रयोग अपने लिये किया है इसलिये राक्षस बन गये। रावण ने कितनी घोर तपस्या की। हिरण्यकश्यप ने कितनी घोर तपस्या की, सभी यज्ञकर्त्ता थे परन्तु वे यज्ञ उन्होंने अपने स्वार्थ के लिये किए इसलिये उन्हें हम राक्षस कहते हैं। यदि यही **यज् देव पूजायाम्, यज् संगतिकरणे** के पश्चात् **यज् दाने**, लोक हित में इसे समर्पित कर दोगे तो आप देवता बन जाओगे। **यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमा न्यासन्**, वेद कहता है कि यदि तुम उस यज्ञ को यज्ञ पुरुष को समर्पित कर दोगे, मिले हुए सामर्थ्य को यदि तुम लोकहित में समर्पित कर दोगे तो तुम परमात्मा के परम पद को प्राप्त करने के अधिकारी बनोगे ; यह यज्ञ का प्रयोजन है। इसलिये देव पूजन की बड़ी महिमा है और देवताओं को अपना महत्त्व है। उन्हीं के रूप में वही परमात्मा प्रकट हुआ है लेकिन कोई देवता स्वयं में परमात्मा नहीं है। एक देवता ही परमात्मा नहीं है बल्कि देवता भी परमात्मा है अर्थात् प्रत्येक देवता के रूप में भी परमात्मा ही है। जब आप इस सिद्धान्त को समझ लेंगे तो आप देवताओं की उपासना में प्रयुक्त होने वाली जो अपरा विद्या है, जिसे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेदादि कहते हैं, इसकी महत्ता को भी समझ पायेंगे। इसलिये शास्त्रकारों ने कहा कि उस पराविद्या को, ब्रह्मविज्ञान को, परम विज्ञान को समझने के लिये पहले तुम्हें अपनी भूमिका बनानी होगी। शास्त्र में एक बात बताई गई–यदि व्यक्ति चलते

हुए गिरता है तो उठने के लिये वह किसका सहारा लेगा ? उसी भूमि का जहां गिरा है। जिस पृथ्वी पर आप गिरे हो उसका सहारा लिये बिना क्या आप खड़े हो सकते हो ? यदि आप कहो कि हमे तो कोई दूसरा सहारा देगा, तो वह भी पृथ्वी पर ही होगा। जैसे पृथ्वी पर गिरे हो तो पृथ्वी का सहारा लेकर ही खड़े हो सकते हो इसी रूप से शास्त्र कहता है कि तुम संसार के मोह में फंसे हो, संसार के यथार्थ रूप को जानकर ही तुम आगे बढ़ सकते हो। उससे पहले बढ़ना चाहते हो तो वही गति होगी जो त्रिशंकु की हुई। इसलिये हमारे प्राचीन ऋषियों ने परा विद्या और अपरा विद्या दोनों का पूर्ण रूप से अनुसंधान किया, प्रयोग किया। जीवन की पूर्णता की प्रतिष्ठा की ; इसमें कोई छोटा नहीं, कोई बड़ा नहीं। छोटे–बड़े की बात नहीं, हाँ पहले और बाद की बात है, इसमें कोई सन्देह नहीं। अपरा विद्या प्रथम है और परा विद्या बाद में है इसलिये वेद कहता है–

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।

जो लोग अविद्या की उपासना में लगे रहते हैं यानी अपरा विद्या को पकड़े रहते हैं, वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं। लेकिन–

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः।।

उनसे भी बड़े अन्धकार में वे जाते हैं जो विद्या में रत रहते हैं। यहां अविद्या माने अपरा विद्या का विषय और विद्या माने परा विद्या का विषय। अपरा विद्या का विषय है क्षर प्रकृति, जिसे कहते हैं अविद्या। वेद के किसी मन्त्र का अनुसंधान करना हो तो वेद के ही अन्य मन्त्रों को समझो तो बड़ा अच्छा रहता है। वेद का अनुसंधान करते हुये मुझे वेद में ही सुन्दर अर्थ मिल गया। मन्त्रोपनिषद् में स्पष्ट रूप से बताया गया–

क्षरं तु अविद्या अमृतं तु विद्या।

अविद्या किसे कहते हैं ? क्षर को और क्षर किसे कहते हैं ?

क्षरं प्रधानं अमृताक्षरं हरः।

क्षर कहते हैं प्रधान को, और प्रधान किसे कहते है ?

प्रकृष्ट रूपेण धीयते अन्तस्लीयतेयस्याम् इदं सर्वम् सा प्रधानम्।

जिसमें प्रलय काल में सारा विश्व मूल रूप में समा जाता है, उस प्रकृति का नाम प्रधान है।

प्रकृष्ट रूपेण क्रियते अनया इदं सर्वम् सा प्रकृतिः।

जिसके द्वारा इन अनन्त रूपों का विस्तार होता है, उसे प्रकृति कहते हैं और जिसमें इन सबका आधान होता है, जिसमें समा जाते हैं, उसे प्रधान कहते हैं। जो प्रकृति है वही प्रधान है इसलिये –**क्षरं प्रधानं अमृताक्षरं च**, प्रधान को क्षर और अमृत को अक्षर कहते हैं।

इसी संहिता में समझाया गया – **क्षरं तु अविद्या अमृतं तु विद्या**, अविद्या को क्षर कहते हैं और अक्षर को विद्या कहते हैं, अमृत को विद्या कहते हैं, अमृत आत्मा है। इसी स्थान पर अगले मंत्र में समझाया गया है (यहां तीन मंत्र एक साथ हैं) **अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते**। अविद्या का अनुसंधान करने वाला मृत्यु से तर जाता है और विद्या का अनुसंधान करने वाला अमृत का भोग करता है लेकिन जो केवल प्रकृति के अनुसंधान में ही लगे रहते हैं उनकी क्या गति होती है ? वेद कहता है – वे घोर अन्धकार में जाते हैं। इस विषय में मैं कभी–कभी अमेरिका के लोगों को भी यही समझाता हूं कि हमारे देश में आज से कुछ वर्ष पूर्व केवल विद्या की आराधना होने लगी, पराविद्या की बड़ी महिमा हुई, उपनिषदों का अनुसंधान हुआ। कुछ आचार्य आए, उन्होंने संसार की कोई बात ही नहीं की। उसके लिए तो कहा, यह सब मिथ्या भ्रम जाल है, नरक है। **नरकस्य नरकं किम्** ? नरक का भी नरक क्या है ? कहा– **स्व शरीरम्**। स्व शरीर। जब शरीर ही नरक हो गया फिर उसके लिए कौन व्यवस्था करेगा ? वह तो चाहेगा कि जल्दी नरक से निकले। हमारे पूर्वाचार्यों ने अविद्या की खूब निन्दा की और आत्मा के बड़े गीत गाए। परिणाम यह हुआ कि भारत के लोग अविद्या नहीं विद्या में रत हो गए और पश्चिम के लोग अविद्या के गीत गाते हैं, अविद्या ही उनका सर्वस्व है। वे कहते हैं कि संसार के सुख से परे कुछ है ही नहीं। जो वेद का संदेश था–

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।

जो अविद्या की उपासना करते हैं वे अन्धकार में पड़े हुए हैं।

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः।

जो विद्या में रत हैं वे तो उससे भी घोर अन्धकार में पड़े हुए हैं। भारतीयों को तुम देख लो। केवल ब्रह्म की व्याख्या करने के नाते, ब्रह्म में रत होने के नाते, संसार की उपेक्षा करने के नाते घोर अन्धकार में पड़ गये, जिसके परिणामस्वरूप एक–दो सौ वर्ष नहीं नौ सौ वर्ष तक संघर्षरत रहना पड़ा। दुनिया का श्रेष्ठतम धर्म, दुनिया

की श्रेष्ठतम जाति, दुनिया के श्रेष्ठतम ज्ञान–विज्ञान का स्रोत जिस देश के पास हो, उसे मुट्ठी भर लोग बहुत दूर से आकर अपने अधिकार में कर लें, इससे बढ़कर शर्म की बात क्या हो सकती है ? लेकिन यह क्यों हुआं ? जानते हो ! विद्या में रत होने के नाते। वे नीचे देखे ही नहीं। जिस पृथ्वी पर खड़े थे वहां उनका ध्यान नहीं गया। आप जानते हो जो ऊपर देखेगा उसे चलते हुए छोटा पत्थर भी ठोकर मार कर गिरा देगा, यदि नीचे देखकर चलेगा तो बड़े–२ पहाड़ भी पार कर जायेगा। इसी रूप से भारत के विद्वान्, भारत के आचार्य ऊपर देखते रहे नीचे नहीं देखा। नीचे न देखने से जो भारत की नौ सौ वर्ष दुर्गति हुई है, वह भुलाई नहीं जा सकती। भगवान् की कृपा थी कि नौ सौ वर्ष में ही छूट गए, नहीं तो जो लोग नौ सौ वर्ष तक भारत में रहे, उन्होंने किसी देश को छोड़ा नहीं, भारत के साथ का कोई देश आज जीवित नहीं है, सभी समाप्त हो गये। आज इतिहास में उनका नाम है और उनके खण्डहर केवल अजायबघर में पड़े हुए हैं लेकिन भारत आज भी आपको वही भारत मिलेगा जो लाख वर्ष पुराना था। भारत के लोगों ने ब्रह्मविद्या के बल पर नीचे नहीं देखा, दुःख तो उठाया लेकिन उनका नाश नहीं हो सका, भगवान् की बड़ी कृपा है।

मैं कभी किसी को एकांगी ज्ञान की शिक्षा नहीं देता। याद रखो तुम्हारे जीवन के दो पहलू हैं। तुम मनुष्य हो आत्मा नहीं। आत्मा कैसे हो ? भूख लगती है कि नहीं ? रोटी की चाह है ? आत्मा को कभी भूख नहीं लगी इसलिए तुम आत्मा नहीं हो। तुम शरीर भी नहीं हो। शरीर को भी भूख नहीं लगती। न शरीर को भूख लगती है और न ही आत्मा को भूख लगती है लेकिन तुम्हें भूख लगती है इसलिये तुम अपना अनुसंधान करो कि तुम कौन हो ? आत्मा होते तो भूख न लगती, शरीर होते तो भूख न लगती। हम उपनिषदों में पढ़ते हैं कि जब ब्रह्म से विराट् का आविर्भाव हुआ तो विराट् के साथ जीवन की यथार्थता को समझने के लिए क्षुधा और पिपासा का जन्म हुआ। भूख–प्यास कहने लगे कि हमारे लिए आहार की व्यवस्था करो। हम कहां रहें ? तब विराट् ने अनेक देवताओं को अपने अंगों से प्रकट कर उस पुरुष के शरीर में प्रवेश कराया और क्षुधा–पिपासा से कहा कि जो इनकी तृप्ति का साधन होगा वही तुम्हारी तृप्ति कर देगा। इससे हम समझ पाये कि हमारा जीवन देवता और देव का संगम है। यह प्रकृति पुरुष का मिलन स्थल है, हमारा शरीर प्रकृति का कार्य है। यह देवताओं की अभिव्यक्ति है और यह

आत्मा उस परम देव की ज्योति है। इन दोनों के संयोग से हमारा व्यक्तित्व निर्मित हुआ है। जब आप कहते हो कि हम मनुष्य हैं तो आप उस समय न शुद्ध आत्मा होते हैं और न ही शुद्ध शरीर, बल्कि दोनों के संगम होते हैं। इसलिए शरीर की पूर्ति के लिए जिनकी जरूरत है आप उनकी उपेक्षा नहीं कर सकते। आत्मा के लिए जिसकी जरूरत है उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते। उपनिषद् इसी ब्रह्मज्ञान को आपको समझाती है। वह कहती है कि शरीर की पूर्ति देवताओं के द्वारा होगी और आत्मा की पूर्ति उस परम देव के द्वारा होगी। देवताओं की उपासना करो और उस परम देव से अभिन्नता की अनुभूति करो। पृथ्वी का जोतना पृथ्वी देवता की उपासना है। उसमें खाद डालना, उसमें बीज डालना, यह सब उसकी उपासना है और इसके बदले में क्या मिलता है ! सुन्दर फल, सुन्दर अनाज देवताओं का दिया हुआ दान है, इसी रूप से हर देवता की उपासना होती है। हर देवता की उपासना के तरीके अलग–२ हैं। उन तरीकों से जो देवता की उपासना करता है तो उनके द्वारा फल प्राप्त करता है। उस फल से उसकी तृप्ति होती है। गीता में भगवान् ने एक बात समझाई है –

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमावाप्स्यथ।।

(गीता ३/११)

तुम देवताओं की उपासना करो और देवता लोग तुम्हारी पूर्ति करें। तुम और देवता दोनों मिलकर ही अपना विकास कर सकते हो अन्यथा नहीं हो सकता। इसलिए मैं आप लोगों को समझा रहा था कि ब्रह्मज्ञान, ब्रह्मविद्या आपको समग्र जीवन जीने की सीख देता है। आप पश्चिम की तरह प्रकृतिवादी न बनें और मध्यकालीन भारतीयों की तरह केवल ब्रह्मवादी न बनें, नहीं तो दुर्गति होगी। आप यथार्थ और आदर्श के स्वरूप को समझें। आप अपनी यथार्थता समझें कि आप क्या हैं ? कहां हैं ? किस अवस्था में हैं ? अपने जीवन के लक्ष्य को समझें कि आपके जीवन का लक्ष्य क्या है ? इससे आप **'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'** जो पतंजलि का संदेश है कि यह दृश्य आपके भोग और अपवर्ग के लिये हैं, तभी समझ पायेंगे। वेद का जो संदेश है–

ईशावास्यमिदं सर्व यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।।

इसे आप समझ पायेंगे। 'भोग' माने अनुभूति, भोग का अर्थ ग्रहण नहीं है। स्वादात्मक अनुभूति, रसात्मक अनुभूति का नाम भोग है। अनुभूति ज्ञान का परिणाम है। जहां ज्ञान है वहीं अनुभूति होगी, जहां ज्ञान नहीं वहां क्या अनुभूति होगी ? आपको यदि एन्सथीसिया दे दिया जाए और बाद में आपके शरीर को काटा जाए तो क्या आपको पीड़ा होगी ? नहीं होगी। आप उस समय बेहोश हैं, आपको कुछ पता ही नहीं है, कुछ ज्ञान ही नहीं है। ज्ञान न होने से कुछ अनुभूति नहीं होगी। ग्लूकोस जो शरीर में चढ़ाते हैं वह है तो अंगूर का रस। यदि आप गिलास में डाल कर पीयें तो आपको स्वाद आयेगा, रस मिलेगा। जब वही रस सुई द्वारा आपके शरीर में जाता है तो कौन सा स्वाद आ रहा है आपको ? ग्रहण तो हो रहा है परन्तु किसी वस्तु के ग्रहण करने का नाम भोग नहीं है। भोग अनुभूति को कहते हैं, अनुभूति ज्ञान का सहज धर्म है और ज्ञान आत्मा का सहज धर्म है। गीता के १३ वें अध्याय में भगवान् ने बताया है –

पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।

(गीता १३/२०)

पुरुष ही अनुभव करता है। अनुकूल अनुभव हुआ तो सुख कह दिया, प्रतिकूल अनुभव हुआ तो दुःख कह दिया। सुख किसे कहते हैं ? दुःख किसे कहते हैं ? बड़ी बातें सुनी होंगी, थोड़ा इसे समझ लो। 'ख' कहते हैं छेद को। हमारे शरीर में ६ छेद हैं और जितने रोम कूप हैं, छिद्र हैं, उन्हें कहते हैं खानि। जो इन छेदों के लिए सुष्ठु है उसे कहते हैं सुख और जो इनके लिए दुसह्य हो जाता है, उसे दुःख कहते हैं। 'छेद माने इन्द्रियां, इन्द्रियों के लिए 'खानि' शब्द प्रयुक्त हुआ है। उपनिषद् में कहा गया है–

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्. पश्यतिनान्तरात्मन्।

(कठ० २/१-१)

परमात्मा ने इन सब इन्द्रियों का मुंह बाहर की ओर कर दिया है इसलिए ये बाहर की ओर देखती हैं अन्दर नहीं1

कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्त चक्षुरमृतत्वमिच्छन्।

कोई धीर पुरुष जो अपने मन पर संयम करके अन्तर्मुख हो जाता है, वही परमतत्त्व को देख कर अमृत का भोग करता है।

मैं आप लोगों को समझा था कि सुख और दुःख, ये दोनों इन्द्रियों के

माध्यम से होने वाली अनुभूति है। यह अनुभूति कौन करता है ? इन्द्रियां ? नहीं। कान अनुभूति नहीं कर सकता यदि इसके साथ मन न हो। आंख नहीं देख सकती यदि इसके साथ मन न हो। कोई भी इन्द्रिय बाहर के विषय को स्पर्श नहीं कर सकती यदि इसके साथ मन न हो। **ये हि संस्पर्शजा भोगाः** यही गीता में भगवान् ने बताया कि जो स्पर्श से उत्पन्न होने वाला भोग है—आंख का स्पर्श जब रूप से होता है तब स्वाद आता है, जिह्वा का स्पर्श पदार्थ से होता है तो स्वाद आता है। यह स्पर्श से होने वाली अनुभूति है। भोग माने अनुभूति। इसी भोग को बताया गया– **दुःख योनय एव ते**। ये भोग दुःख की योनियां हैं। दुनिया में दुःख कहां से पैदा होता है ? इसी संस्पर्श की अनुभूति से। मैं आप लोगों को समझा रहा था कि सुख–दुःख की अनुभूति तो चेतन का धर्म है। भगवान् से कहा गया कि यदि अनुभूति चेतन का धर्म है तो संस्पर्श से अनुभूति होगी, यदि अनुभूति दुःख का कारण है तो आदमी दुःख से बच ही नहीं सकता। भगवान् कहते हैं, बच सकता है:–

आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।

यदि उस अनुभूति में रमण न करे तो बच सकता है, बाहर की अनुभूति का यदि आप स्वाद लेने लगेंगे तो आप फंस जायेंगे। यदि अनुभूति हुई, स्वाद नहीं लिया तो आगे बढ़ जायेंगे। अनुभूति तो धर्म है उसका, तो अनुभव आप करेंगे, उससे आप बच नहीं सकते, जहां चेतन है वहां अनुभूति होगी ही। अनुभूति करते हुए आप आगे बढ़ सकते हैं, बिना आसक्त हुए। गीता का अनासक्ति योग अपने आप में अद्वितीय मार्ग है। मैं आप लोगों को समझा रहा था कि प्रकृति के यथार्थ स्वरूप को समझते हुए, शरीर की पूर्ति करते हुए आप आत्मा के अनुसंधान में प्रवृत्त हों। इसे **भोगापवर्गार्थं दृश्यम्** कहा गया है। दृश्य के अभाव में आपको स्वर्ग नहीं मिल सकता। मोक्ष पाने के लिए भी आपको साधना करनी पड़ेगी। साधना किससे होगी ? आत्मा से नहीं, साधना तो शरीर से होती है। तुलसीदास जी ने लिखा है कि भुशुण्डि जी कहते हैं–

तजउँ न तन निज इच्छा मरना।

"मैं अपने शरीर का त्याग नहीं कर रहा, यदि चाहूँ तो कर सकता हूँ क्योंकि मेरी मृत्यु मेरी इच्छा पर निर्भर है।" क्यों नहीं कर देते ? कहा **"तन बिनु भजन बेद नहि बरना"**, बिना शरीर के भजन होता ही नहीं, सेवा होती ही नहीं। किसी की

सेवा करनी है तो शरीर की जरूरत है। भजन माने सेवा। आजकल भजन शब्द का बड़ा दुरुपयोग हो रहा है। जितने महत्त्वपूर्ण शब्द हैं उन सबका दुरुपयोग हो रहा है। यज्ञ के नाम पर, धर्म के नाम पर, योग के नाम पर, भजन के नाम पर, भक्ति के नाम पर, धर्म के नाम पर—इन शब्दों का इतना अधिक दुरुपयोग हो रहा है कि विचारवान तो कांप जाता है। भजन शब्द का अर्थ **भज् सेवायाम्** है। आज भजन माने माला घुमाना है। उसका अर्थ ही बदल गया। शास्त्रकारों ने यज्ञ शब्द की व्यख्या की है—'**देव पूजायाम् संगति करणे दाने**,' देवताओं का चिन्तन, उनकी शक्ति का ग्रहण, शक्ति का संकलन और समाज हित में उसका समर्पण, यज्ञ शब्द का अर्थ है। परन्तु आज यज्ञ का क्या अर्थ होता है ? कैसा भी हो, कुछ सामान ले आये और अग्नि में स्वाहा कर दिए। हरेक शब्द अपने आप में दुरुपयोग को प्राप्त हो गया है। क्यों ऐसा है ? अबोधता के नाते। न तो कोई समझाने वाला मिला और न समझने वाला ही मिला।

मैं आप लोगों को जो समझा रहा था उसे समझिए—ब्रह्मविद्या दोनों विद्याओं के संयुक्त स्वरूप का नाम है। जिसमें अपरा विद्या तो जगत् से सम्बन्धित है, जगत् के विषयों से सम्बन्धित है, जगत के पदार्थों से सम्बन्धित है। इस जगत् के पदार्थों के समष्टि रूप को देवता कहा गया है। जगत् में जितने तत्त्व हैं उनके दो रूप हैं—समष्टि और व्यष्टि। एक समग्र रूप, एक उसका छोटा रूप। जो समग्र रूप है उसे देवता कहा गया है ; जैसे प्रकाश के समग्र रूप को देवता कहा गया। वेद में बताया गया है कि प्रकाश तीन प्रकार का है—एक द्यूलोक का प्रकाश, एक अन्तरिक्ष का प्रकाश, एक पृथ्वी का प्रकाश। पृथ्वी के प्रकाश का नाम है अग्नि देवता; अन्तरिक्ष के तेज को विद्युत कहते हैं—वह अन्तरिक्ष का देवता है, इससे परे द्यूलोक के प्रकाश को सूर्य देवता कहते हैं। इसलिए सूर्य—विद्युत और अग्नि, तीनों रूपों में एक ही तत्त्व प्रकट है और ये तीनों तीन स्थान के देवता हैं। लेकिन जब वही अंश रूप में आते हैं तो हम उनका ग्रहण कर पाते हैं। समग्र रूप से हम उनका प्रयोग भी नहीं कर पाते और ग्रहण भी नहीं कर पाते। उनका अंश ही हम ग्रहण कर सकते हैं और उनका अंश ही हम प्रयोग करते हैं। जितना अंश हम ग्रहण कर सकते हैं वही देवताओं की उपासना से प्राप्त देव बल है। हम वेद में पढ़ते हैं—**तेजोऽसि**, तू तेज स्वरूप है, तू मुझे तेज दे। तू प्राण स्वरूप है, तू मुझे प्राण दे। तू बल स्वरूप है, तू मुझे बल दे। इसका अभिप्राय कि समष्टि रूप में

तू है, हमारे रूप में भी तू उसे परिणित कर दे, हमारे में उसे भर दे। मेरे कहने का अभिप्राय कि समष्टि रूप में परमात्मा की दिव्य शक्तियाँ देवता कही जाती हैं जिनकी उपासना की विधियाँ वेद में हैं। जिससे ये सारे देवता प्रकट होते हैं, वह देव है। उस देव की उपासना की विधियाँ वेद में नहीं उपनिषद् में हैं। इसलिए वेद को अपरा विद्या कहा गया है और उपनिषद् को परा विद्या कहा गया है।

परा विद्या का मूल आधार प्रणव है– ओम्। **ओम् इति एतत्**, ऐसा वेद कहता है। उपनिषद् में उसकी मीमांसा की गई है। छान्दोग्योपनिषद् में उसे उद्गीथ कहा गया है। ओंकार के कई नाम हैं– प्रणव, उद्गीथ आदि। उद्गीथ क्यों कहते हैं ? 'उत्' माने ऊपर, 'गी' माने गान करने से 'थ' माने स्थिति। जिसके उच्चारण करने से आपके जीवन की उच्च स्थिति हो जाए उसे उद्गीथ कहते हैं। जिसके उच्चारण से आपके प्राण की उर्ध्वगति हो जाए उसे उद्गीथ कहते हैं। हमारे यहां राजयोग की प्रक्रिया में जब प्रणव का अनुसंधान करते हैं–मूलाधार से प्राण शक्ति को ऊपर उठाकर सभी चक्रों का भेदन कर ब्रह्मचक्र में प्रतिष्ठित करते हैं प्रणव के द्वारा; उस नाद से प्राण की ऊर्ध्व गति होती है। प्राण की ऊर्ध्व गति होने से सभी इन्द्रियाँ उसके पीछे दौड़ती हैं। उपनिषद् में बताया गया कि मधुमक्खियों में एक रानी–मक्खी होती है। रानी–मक्खी जब उड़ती है तो सारी मक्खियाँ उसके पीछे उड़ पड़ती हैं। इसी रूप से प्राण मधुमक्खियों में रानी मक्खी के समान है। प्राण जब ऊर्ध्वगमन करता है तो सारी इन्द्रियाँ उसके साथ ऊर्ध्वगमन करती हैं। इन्द्रियाँ भी देवताओं का अंश हैं। ये हमारे शरीर के देवता हैं। जैसे समष्टि देवता सूर्य है वैसे ही व्यष्टि देवता नेत्र इन्द्रिय है। जैसे समष्टि देवता वायु है वैसे ही व्यष्टि देवता त्वचा इन्द्रिय है, जिससे स्पर्श सुख होता है। जैसे समष्टि देवता पृथ्वी है वैसे ही व्यष्टि देवता नासिका है, जो गन्ध सूंघती है। जैसे समष्टि देवता अग्नि है वैसे ही व्यष्टि देवता हमारा मुख है। समष्टि माने कुल, सारा, व्यष्टि माने उसका एक छोटा सा अंश। शरीर में वे सभी देवता हैं परन्तु ये सारे देवता उस महादेव के सहारे हैं। वह महादेव प्राण है। जब आप प्रणव का नाद करते हैं तो प्राण ऊर्ध्वगमन करता है। उसके साथ ही सारे देवता उसके पीछे–२ चलते हैं। इसलिए प्रणव की बड़ी महिमा है और उसे उद्गीथ कहा जाता है। इसके गान करने से ही प्राण की ऊर्ध्वस्थिति हो जाती है। इसे प्रणव किस लिए कहते हैं ? **प्रकृष्ट रूपेण नवति स्तवति इति प्रणवः**। 'प्र' माने

प्रकृष्ट, 'णव' माने स्तुति–जिसके उच्चारण मात्र से परमात्मा के समग्र रूप का बोध हो जाए, उसे प्रणव कहते हैं। इसलिए जब प्रणव का उच्चारण किया जाता है तो शरीर की सारी नाड़ियाँ कांप उठती हैं। जैसे कसी हुई वीणा के एक तार को हिलाने से सभी तार झनझना उठते हैं और उससे स्वर निकलने लगते हैं उसी प्रकार जब साधक प्रणव का नाद करता है तो उसके सारे अवयव गतिशील हो जाते हैं ; इसलिए इसे 'प्रणव' कहते हैं। जैसे आपके सारे शरीर में गति होती है वैसे ही सारे ब्रह्माण्ड में गति होती है। हमारे यहां शास्त्रों में बताया गया है कि प्रणव सृष्टि का मूल आधार है, आदि–नाद है।

सृष्टि दो प्रकार से होती है–नादजन्य और बिन्दुजन्य। नाद और बिन्दु सृष्टि के दो कारण हैं। इसीलिए हमारे यहां दो प्राकर की संतान मानते हैं–एक नादजन्य संतान और दूसरी बिन्दुजन्य संतान। बिन्दुजन्य संतान को पुत्र कहते हैं और नादजन्य संतान को शिष्य कहते हैं। शिष्य गुरु की नादजन्य संतान है। शास्त्रों में पुत्र और शिष्य दोनों को बराबर का अधिकार है क्योंकि एक बिन्दुजन्य है और दूसरा नादजन्य है। हमारे ऋषियों ने पुत्र की अपेक्षा शिष्य को अधिक महत्त्व दिया है। उन्होंने कहा है कि पुत्र अज्ञानता की उपज है और शिष्य ज्ञान की संतान है। पुत्र शरीर की संतान है और शिष्य आत्मा की संतान है इसलिए पुत्र की अपेक्षा शिष्य श्रेष्ठ है। नाद शब्द है, शब्द ज्ञानजन्य है इसलिए ज्ञानजन्य होने के नाते शिष्य का महत्त्व श्रेष्ठ है। हमारे यहाँ जितने महापुरुष हुए हैं उन्होंने शिष्य को पुत्र की बजाय अधिक मान दिया है। आप महाभारत में द्रोणाचार्य को देखें–जितना प्यार वे अर्जुन से करते थे उतना अश्वत्थामा से नहीं। इस युग में महापुरुष हुए हैं–गुरुनानक देव। गुरुनानक देव ने अपने शिष्य को उत्तराधिकारी बनाया पुत्र को नहीं बनाया। उनके दो पुत्र थे। स्त्री कहती रह गई कि आप अपने पुत्रों को अपनी गद्दी का उत्तराधिकारी बना दीजिए लेकिन उन्होंने कहा, मेरा पुत्र इस योग्य नहीं है, शिष्य ही इस योग्य है। मैं आप लोगों से बता रहा था, कि पुत्र और शिष्य दोनों संतानें हैं। शिष्य ज्ञान की संतान है, नाद की संतान है। सृष्टि के दो भेद बताए गए हैं–नादजन्य सृष्टि और बिन्दुजन्य सृष्टि। सृष्टि के मूल में नादजन्य सृष्टि ही अनादि सृष्टि है क्योंकि बिन्दुजन्य सृष्टि तो मैथुनी सृष्टि है। मैथुनी सृष्टि तो बाद में शुरू हुई, नादजन्य सृष्टि प्रथम थी; इसलिए वह अनादि है। इस विषय में बताया गया कि प्रलयकाल में प्रकृति प्रशान्त होती है, उसमें

किसी प्रकार की गति नहीं होती। साम्यावस्था में होती है तो प्रलय होता है। प्रकृति में जब विषमता उत्पन्न होती है तो सृष्टि होती है। परमात्मा के दिव्य प्रकाश से जब प्रकृति विक्षुब्ध होती है तो प्रकृति के परमाणुओं में, गुणों में (जिसे आजकल वैज्ञानिक Energy कहते हैं) विक्षोभ होता है, गति होती है, उस गति से जो नाद पैदा हुआ उसे **'ओम्'** कहते हैं। जहाँ गति होती है वहाँ शब्द भी होता है ; उस नाद को प्रणव कहते हैं। उस नाद से ज्ञान पैदा हुआ। उसी ज्ञान से ब्रह्मा पैदा हुआ और वही ज्ञान उस ब्रह्मा में प्रकट हुआ। वेद कहता है–

यो ब्रह्माणं विद्धाति पूर्ण यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये।।

(श्वेता० ६/१८)

"जिस परमात्मा ने सर्वप्रथम ब्रह्मा को जन्म दिया और अपने दिव्य ज्ञान से उसे भर दिया, वेदों को उससे प्रकट किया, वह हमारी बुद्धि आत्मा को प्रकाशित करने वाला हमें ज्ञान दे।"

मैं आप लोगों को समझा रहा था कि पुरुष के संयोग से प्रकृति में जो गति होती है, जो शब्द उत्पन्न होता है, उसे प्रणव कहते हैं, ओम् कहते हैं इसीलिए ओम् अनाहत शब्द है। अनाहत माने जो किसी प्रकार के आहत से, किसी प्रकार के आघात से उत्पन्न न होता हो। जिस समय **'ओम्'** का उच्चारण करते हैं उस समय यदि आपकी जिह्वा, आपका ओंठ कहीं स्पर्श करता है, हिलता है, आहत करता है तो आप प्रणव का नादं नहीं कर रहे। प्रणव का नाद अनाहत है, उसमें किसी प्रकार का आघात नहीं करना चाहिए। कोई गति नहीं होनी चाहिए, कहीं स्पर्श नहीं करना चाहिए। मुख के अन्दर यदि गति हो रही है तो वह आहत शब्द हो जाएगा। प्रणव का नाद अनाहत है, स्वतः है। जब आप नाद करेंगे तो जैसे प्रकृति का प्रत्येक परमाणु सृष्टि के आदि में गतिशील हुआ वैसे ही आपके शरीर का प्रत्येक परमाणु गतिशील हो जाएगा। इसीलिए 'प्रणवोपासना' श्रेष्ठतम उपासना बताई गई है। यह अपने आप में गुरुगम्य रहस्य है। इसे प्रणव इसलिए कहते हैं कि इससे परमात्मा की महिमा का गान होता है। 'प्रणव' माने **प्रकृष्टरूपेण नवति स्तवति इति प्रणव,** जिसके उच्चारण मात्र से परमात्मा की महिमा का बोध हो। उद्गीथ क्यों कहते हैं ? जिसके गान मात्र से प्राण की ऊर्ध्व गति हो। **ओम्–अवतु इति ओम्।** ओम् क्यों कहते हैं ? जो उच्चारण करने वाले की चारों

ओर से रक्षा करे। भला आप ही सोचिए जब उच्चारण मात्र से आपके शरीर का प्रत्येक अवयव गतिशील हो जायेगा और दिव्यता से परिपूर्ण हो जाएगा तो इससे बड़ा आपकी रक्षा का और क्या साधन हो सकता है ! रक्षा किससे होती है ? पतन से। पतन कैसे होता है ? चेतना का आविर्भाव ब्रह्मरन्ध्र में, चिदाकाश में होता है जो एक बाल की नोक के हज़ारवें हिस्से के समान है। चिदाकाश से सारी शक्ति मिलती है। उसकी उपस्थिति में प्राणन क्रिया से सारी शक्ति जागृत होती है। वह शक्ति Pitchtuary gland के नीचे से बहती है। Brain तो Mind की अभिव्यक्ति का माध्यम है, Brain स्वयं Mind नहीं है। Brain को हमारे यहां मस्तिष्क कहते हैं, यह ज्ञान की अभिव्यक्ति का माध्यम है। जैसे बल्ब है, उसके खोल के नीचे एक और छोटा सा खोल है और उसमें बहुत पतला सा तार है, जब तक तार है तभी तक प्रकाश मिल रहा है। यदि तार टूट जाए तो बल्ब का खोल पड़ा रहे कुछ नहीं होगा। ऐसे ही खोपड़ी को आप बल्ब का खोल समझ लीजिए और इसमें जो पतला सा तार है वो आप चिदाकाश समझो। इसी के माध्यम से चेतन का प्रकाश प्रकट हो रहा है, वह वहाँ से सुषुम्रा नाड़ी द्वारा पीछे से Tailbone तक जाता है, आपके पाँव में जाता है। आपके शरीर में १६ केन्द्र हैं। प्राणन शक्ति के Vital Centers हैं। इन्हीं चक्रों में आपके जीवन की प्रक्रिया आगे बढ़ती है। ये चेतना पाँच स्तरों पर आती है। पहले चेतना जहाँ प्रकट होती है उसे 'बौद्धिक चेतना' कहते हैं। जब आगे बढ़ती है तो स्फुरणा होती है 'मैं' की, यह अहं चेतना होती है। जब 'मैं' को मेरा कहते हो तो वह मनस् चेतना होती है। बौद्धिक चेतना, अहं चेतना, मनस् चेतना और मनस् चेतना के आगे 'ऐन्द्रिय चेतना' कहते हैं, जब यह सारे शरीर में व्याप्त हो जाती है तो उसे 'शारीरिक चेतना' कहते हैं। प्रणव–उपासना से समस्त चेतना ब्रह्मरन्ध्र में केन्द्रित हो जाती है। इस प्रकार प्रणवोपासना के द्वारा ऊर्ध्वगति को प्राप्त कर परमात्मा का बोध प्राप्त किया जा सकता है।

❋❁❋❋

स्वस्तिक एक विश्लेषण !

वैदिक विचारधारा में मूलाधार चक्र चतुश्दल कमल के रूप में स्वीकार किया गया है। वही जब गतिमान होता है तो स्वस्तिक के रूप में परिणित होता है। स्वस्तिक का जो अर्धभाग क्रॉस रूप में है, वह गतिहीन अवस्था है। जीसस क्राइस्ट जब भारत से वापिस गया तो अपने साथ स्वस्तिक ही लेकर गया था, लेकिन बाद में उसके यहां क्रॉस वहां के सिम्बल रूप में स्वीकार हुआ। जैन, बौद्ध तथा तांत्रिक सम्प्रदायों में भी स्वस्तिक स्वीकार किया गया है। मूलाधार कमल की जो चार पंखुडियाँ हैं, यही स्वस्तिक की चार भुजाएं हैं। साधना के पश्चात ध्यान की गहन अवस्था में प्राण की ऊर्ध्वगति अपने आप होती है। उस अवस्था में जो मूलाधार में गति होती है, स्वस्तिक उसी का प्रतीक है। योगविज्ञान में स्वस्तिक और प्रणव दोनों को स्वीकार किया गया है। स्वस्तिक मूलाधार का और प्रणव ब्रह्मचक्र का प्रतीक है। प्रणव में अनुस्वार वा अर्धमात्रा जो है वह आज्ञाचक्र और ब्रह्मचक्र से सम्बन्धित है और बिन्दु प्रकृति का प्रतीक है। कुछ लोगों की मान्यता है कि तान्त्रिक प्रक्रियायें अवैदिक हैं लेकिन मेरी ऐसी राय नहीं। इसका मूल तो वेद में ही है। अथर्ववेद से इसका विशेष सम्बन्ध है। स्वस्ति शब्द वेद का है! ऋग्वेद में हमें यह शब्द मिलता है–

ॐ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धवश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।

स्वस्ति नस्ताक्ष्यों अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।।

यहां 'स्वस्ति न' मन्त्र का अर्थ है –"हम सबके लिए कल्याणकारी हो।" वैदिक मन्त्रों में बहुत कम मन्त्र व्यक्तिगत कल्याण की कामना से सम्बन्धित हैं, अधिकांश मन्त्र लोककल्याण की भावना से ही अभिभूत हैं। 'स्वस्ति' का अर्थ है 'कल्याण' और साथ में जो 'क' अक्षर लगा, उसका अर्थ है 'कल्याण करने वाला।' तो कल्याणकारी क्या है ? कहा, जिसमें गति हो। जीवन का विकास वा कल्याण गति में ही है। जहाँ हमारी स्थिति है गति तो वहीं से होगी। आम लोगों की स्थिति तो मूलाधार में यानी इस भूःलोक में ही है, इसलिए इसे चतुर्भुज करके गति का प्रारम्भ दिखाया गया है। इसकी गति दक्षिणावर्ती है। मूलाधार से जो चेतना की गति चलती है,

वह सीधी रेखा में नहीं होती। नाद के माध्यम से प्राण की जब ऊर्ध्वगति होती है तो वह घुमाव में होती है क्योंकि गति कभी भी सीधी रेखा में नहीं हो सकती, यह सृष्टि का नियम है। इसलिए स्वस्तिक में जो अरे दक्षिणावर्ती बने हैं उसका कारण यही है कि गति इस ढंग से हो रही है। प्राण की ऊर्ध्वगति के लिए सप्त व्याहृतियों से युक्त चतुष्पदा गायत्री का प्रयोग इसमें होता है। त्रिपदा और चतुष्पदा गायत्री में अन्तर क्या है, इसे भी आप समझ लें। तीन व्याहृतियों के साथ जो गायत्री है, वह सूर्यमण्डल अन्तर्गत द्यूलोक के तेज की प्रार्थना है। यह गायत्री सूर्यमण्डल की प्रार्थना में प्रयुक्त होती है। जब हम सप्त व्याहृतियों के साथ उसका प्रयोग करते हैं तो वह सूर्यमण्डल से सम्बन्धित नहीं होती, वहाँ सावित्री शब्द का अर्थ बदल जाता है। इसका प्रयोग सूर्य का भी जो सूर्य है, उसके लिए है। वेद में इसका संकेत आता है–

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिंद विभाति।।

(कठ. २/२–१५)

"वहाँ न सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा और न तारों का समुदाय ही। न बिजलियाँ ही प्रकाशित होती हैं, फिर यह लौकिक अग्नि कैसे प्रकाशित हो सकती है ? उसके प्रकाशित होने पर सब प्रकाशित होते हैं, उसी के प्रकाश से यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है।"

सूर्यमण्डल को 'द्यु' कहा गया है, 'द्यु' से परे पारमेष्टि है, पारमेष्टि से परे स्वयंभू और स्वयंभू का भी जो आधार है, उसके लिए चतुष्पदा गायत्री का प्रयोग होता है। भूः भूलोक, भुवः अन्तरिक्ष लोक, स्वः द्यु लोक, महः सोम लोक व चन्द्र से सम्बन्धित है। हम तो ऐसा मानते हैं कि सूर्य के प्रकाश से जो प्रकाशित तत्त्व है, वह सोम है लेकिन वेद में ऐसा नहीं स्वीकार किया गया। वेद में एक मन्त्र है –**'सोमेन बलिना सूर्यो'** सूर्य किससे जीवित है ? कहा, सोम से। सूर्य का जो जीवन वा आधार है, वह सोम है। सूर्य का कार्य सोम नहीं। चन्द्रमा में जो प्रकाश हम देखते हैं वह तो सूर्य का कार्य वा सूर्य का प्रकाश है। चन्द्रमा पृथ्वी का भाग है लेकिन ऐतरेय, छान्दोग्योपनिषद् तथा श्रीमद्भागवत में सूर्यलोक से परे चन्द्रलोक की व्याख्या है। वहाँ सोम तत्त्व सूर्य का प्राण है। सूर्य को जिससे जीवन मिलता है, यह उसी का प्रतीक है। सोम का आधार पारमेष्टि है और पारमेष्टि को

हमारे यहां 'जनःलोक' कहते हैं। पारमेष्टि से परे तथा स्वयंभू के मध्य 'तपःलोक' है। जैसे सोम सूर्य का प्राण है ऐसे ही तपः पारमेष्टि का प्राण है। तपःलोक स्वयंभू की अभिव्यक्ति वा उसका प्रकाश है। तपः से आगे सत्यं है। वेदमन्त्रों में ब्रह्म को विराट् वृक्ष के रूप में अभिव्यक्त किया गया है और उस विराट् वृक्ष की शाखा के रूप में अनन्त स्वयम्भुओं की स्थिति है। जैसे वट वृक्ष की शाखाएं नीचे आती हैं, ऐसे ही स्वयंभू से तपः, तपः से जनः, जनः से महः, महः से स्वः, यह भू लोक तक इसका इस तरह फैलाव होता है। ऐसे एक नहीं अनन्त शाखाएँ निकली हुई हैं और उनमें से हम एक से सम्बन्धित हैं और सूर्य उसका प्रकाशक है। सूर्य से परे क्या है, हम नहीं जानते लेकिन वेद इसके लिए निर्देश करता है कि सूर्य की आत्मा महः है जहाँ से सूर्य को जीवन मिलता है। 'महः' की आत्मा 'जनः' जहां से 'महः' की सत्ता है, 'जनः' की आत्मा 'तपः' जहाँ से 'जनः' को जीवन मिलता है और तपः की आत्मा सत्यं है लेकिन सत्यं स्वयं में ब्रह्म नहीं स्वयंभू है। जैसे सत्यं स्वयंभू है ऐसे ही अनन्त स्वयंभू हैं और स्वयंभू को ब्रह्म रूपी वृक्ष की केवल एक शाखा बताया गया । एक **'तत्सवितुर्वरेण्यं'** जो स्वः से परे है, उसके लिए त्रिपदा गायत्री का विधान है और दूसरा **"ॐ भूः, ॐ भुवः, ॐ स्वः, ॐ महः, ॐजनः, ॐ तपः, ॐ सत्यं तत्सवितुर्वरेण्यं"** जब हम कहते हैं तो यह ब्रह्म की तरफ संकेत है, इसलिए वहां चतुष्पदा गायत्री का प्रयोग है।

मेरे कहने का अभिप्राय यह कि 'स्वस्तिक' मूलाधार से गति को प्रारम्भ करके अनुस्वार तक, जिसे वेद में केवल ध्वनिमात्र वा स्वर मात्र कहा गया है, वहां तक ले जाता है। प्रणव का जो ध्वनिमात्र अस्तित्व है उसे स्पर्श करने के लिए वा उस सत्यं से परे ब्रह्म के साथ एकता की प्रतिष्ठा में यह सहयोगी होता है। इसलिए 'स्वस्ति' से प्रारम्भ हो कर 'स्वस्ति' का जो कारण है जिसे 'स्वस्तिक' कहते हैं, उसी का यह चिन्ह वा प्रतीक है। 'स्वस्तिक' व्यष्टि जीवन में मूलाधार से ब्रह्मचक्र तक की गति का तथा समष्टि में 'भूः लोक' से लकेर 'सत्यं लोक' तक की गति का अवबोधक् है। ये दोनों एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। आप मूलाधार से ऊपर उठे तो इसका अभिप्राय आप 'भूः लोक' से ऊपर उठ गये। 'सत्यं' के आगे तो कुछ नहीं कहा जा सकता। उसके लिए तो केवल संकेत है **'तत्सवितुर्वरेण्यं'** उस सृष्टिकर्ता का हम वरण करते हैं।

✻❀✻✻

कर्मयोग–साधना और सिद्धि

कर्मयोग भगवद्गीता का अपना पारिभाषिक शब्द है। गीता से पूर्व की श्रेष्ठतम कृतियों में कर्म का तो वर्णन है किन्तु कर्मयोग का नहीं। वैदिक कर्म मीमांसा, जिसको धर्म शब्द से सम्बोधित करते हुए महर्षि जैमिनि ने अपने मीमांसा ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है, वह गीतोक्त कर्मयोग से सर्वथा भिन्न है। इसकी भिन्नता इतने से ही स्पष्ट हो जाती है कि जहाँ महर्षि जैमिनि वर्णित कर्म का अन्तिम ध्येय स्वर्गीय सुख की उपलब्धि है, वहां गीतोक्त कर्मयोग का प्राप्तव्य परम–सिद्धि रूप परब्रह्म पद की प्राप्ति व मोक्ष है। जैमिनि प्रतिपादित कर्म प्रवृत्तिमार्गी साधकों का अवलम्बन है, किन्तु गीतोक्त कर्मयोग योगमार्गी साधकों का करणीय कर्म। जैमिनी के कर्मयोग में विधि–विधान की महत्ता है किन्तु गीतोक्त कर्मयोग में भाव की प्रधानता। जैमिनी के कर्म मार्ग में अधिकारी में भेद है किन्तु गीता का कर्मयोग मानवमात्र के लिए समान रूप से करणीय है।

वैदिक धर्म की दो विधाएँ हैं, जिन्हें प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग कहा जाता है। इसमें से प्रवृत्तिमार्ग को लौकिक तथा पारलौकिक भोग प्राप्ति का साधन बताया गया है और निवृत्ति मार्ग मोक्ष का प्रदाता। आचार्यों की राय है कि यदि पूर्व मीमांसा में वर्णित यज्ञादिक कर्म निष्काम भाव से अर्थात् फल की वासना से रहित होकर किए जाएँ तो वे कर्त्ता की चित्तशुद्धि में हेतु बन जाते हैं और शुद्ध चित्त में मुमुक्षा का उदय होता है जिससे व्यक्ति गुरु मन्त्र के साथ ही श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन आदि साधनों का अवलम्बन ले ब्रह्मानुभूति के द्वारा मोक्ष पद का अधिकारी हो जाता है। औपनिषिदक ऋषियों ने चित्तशुद्धि के लिए वैदिक कर्मयोग की अनिवार्यता का प्रतिपादन नहीं किया है। सांख्याचार्यों ने चित्तशुद्धि के लिए जप, तप, आसन, प्राणायाम आदि साधनों को ही महत्त्वपूर्ण माना है। उनका मत है कि वैदिक कर्मों का अनुष्ठान स्वावलम्बी नहीं, परावलम्बी है। उसके सम्पादन के लिए प्राकृतिक पदार्थों एवं पुरोहित की भी आवश्यकता होती है। जिस कार्य को करने में व्यक्ति स्वावलम्बी एवं स्वतन्त्र न हो, उससे भला, उसकी चित्तशुद्धि कैसे

हो सकती है ? कोई भी वैदिक कर्म ऐसा नहीं जो द्रव्य के अभाव में किया जा सके। द्रव्य प्राप्ति के लिए विविध प्रकार के प्रयत्नों की भी आवश्यकता होती है। इस प्रकार से व्यक्ति की वृत्ति अन्तर्मुखी होने की अपेक्षा सदैव बहिर्मुखी ही बनी रहती है। भला बहिर्मुखी वृति वाला व्यक्ति किसी भी प्रकार के अनुष्ठान से स्वयं के चित्त को कैसे शुद्ध कर पाएगा ? अतः चित्तशुद्धि के लिए वैदिक कर्मकाण्ड का अवलम्बन सर्वथा अनुपयुक्त है, इस सम्बन्ध में गोस्वामी जी ने भी अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है।

छूटै मल कि मलहि के धोए। घृत कि पाव कोउ बारि बिलोये।।

जिस प्रकार से मल के द्वारा धोने से मल साफ नहीं होता, पानी के मथने से घृत की प्राप्ति नहीं होती उसी प्रकार से वैदिक कर्मकाण्ड के अनुष्ठान से अन्तर्शुद्धि सम्भव नहीं क्योंकि वह सर्वथा मल द्वारा मल धोने के समान व कीचड़ से कीचड़ धोने के समान साधक के लिए सर्वथा अनुपयोगी है। इसीलिए सांख्याचार्यों ने परमार्थ पथ के अभीप्सु के लिए उसे सर्वथा अनावश्यक घोषित किया है। उपनिषदों में भी अन्तः करण की शुद्धि के लिए वैदिक कर्मकाण्ड की नहीं अपितु विविध प्रकार की उपासनाओं की व्यवस्था दी गई है। इन उपासनाओं में प्रणवोपासना, प्राणोपासना, उद्गीत–उपासना आदि प्रसिद्ध हैं। मुख्यतः छान्दोग्य की श्रुति ने तो स्पष्ट शब्दों में घोषित किया है '**आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः**' आहार शुद्धि से ही चित्त की शुद्धि सम्भव है। यहां आहार शब्द का अर्थ केवल भोजन से ही नहीं है '**आह्रीयते इति आहारः**', जो कुछ भी ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा, मन तथा बुद्धि के द्वारा ग्रहण किया जाता है, वह सभी आहार है। अतः खान, पान, स्पर्श, दर्शन, श्रवण, मनन और चिन्तन आदि सभी कुछ आहार कहा जाता है। मोक्षाभिलाषी को चाहिए कि सदैव सजगता के साथ इन सभी की शुद्धि पर ध्यान रखे, क्योंकि वे बाह्य आहार के त्रिविध शरीरों के पोषक हैं। इनकी शुद्धि से ही शरीर, मन तथा बुद्धि की शुद्धि हो जाती है। इसके साथ ही प्राणायाम तथा प्रणव–चिन्तन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सांख्याचार्यों ने इन्ही साधनों को चित्तशुद्धि में हेतु माना है क्योंकि सभी साधनों को करने में साधक स्वतन्त्र है।

ऊपर के विवेचन से यह बात स्पष्ट हो गई है कि वैदिक कर्ममार्ग चित्तशुद्धि में उपयोगी नहीं, उसका प्रयोजन लौकिक तथा पारलौकिक भोग की प्राप्ति मात्र है। मुमुक्षु के लिए वैदिक निवृत्तिमार्ग ही एक मात्र ग्रहणीय है। बिना

चित्त शुद्धि के निवृत्ति मार्ग पर चलना शक्य नहीं। अतः इसके लिए साधक को विविध प्रकार की उपासनाओं का ही अवलम्बन लेना हितकर कहा गया है। मोक्ष वा निर्वाण की प्राप्ति में सांख्य का मत भी उपनिषदों के ही समान है किन्तु उपनिषद् और सांख्य द्वारा बताए हुए मार्ग का अवलम्बन जनसामान्य के लिए नहीं अपितु मोक्ष की आकांक्षा रखने वाले विशेष अधिकारी के लिए ही अनुकरणीय है। गीता का कर्मयोग इनसे बिल्कुल भिन्न दृष्टिकोण रखता है। वह न तो अधिकारी–विशेष की बात करता है और न ही क्रिया विशेष की ही। गीता यह मानती है कि सम्पूर्ण मानव समाज दो भागों में बँटा हुआ है, एक भाग दैवी गुणों का आश्रय लिए हुए है और दूसरा आसुरी गुणों का। दैवी गुणों का आश्रय लिया हुआ मानव–समाज मोक्ष का पथिक है और आसुरी गुणों का आश्रय लेने वाला भोग और बन्धन का। सम्पूर्ण शास्त्र तथा सत्पुरुषों की सीख दैवी गुणों से युक्त मानव–समाज के लिए ही उपयोगी होती है, आसुरी समाज के लिए उसकी कोई महत्ता नहीं। दैवी सम्पत्ति से युक्त मानव–समाज के लिए दो प्रकार की निष्ठाएँ श्रेयस्कर बताई गई हैं–एक सांख्य–निष्ठा है और दूसरी योग–निष्ठा। सांख्य निष्ठा कर्म–सन्यास की सीख देती है और योगनिष्ठा कर्मयोग द्वारा निःश्रेयस की सिद्धि का मार्ग प्रशस्त करती है। भगवान् ने अपने मत की प्रतिष्ठा करते हुए भगवद् गीता में घोषणा की है कि–

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।।

(गीता ५/२)

कर्मसंन्यास तथा कर्मयोग दोनों ही निःश्रेयस रूप परमपद को प्राप्त करने के उत्तम साधन हैं किन्तु इन दोनों में कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग का विशिष्ट स्थान है। कर्मयोग का विशिष्ट स्थान क्यों है, इस बात को समझने के लिए हमें मानव की यथार्थ स्थिति को समझना होगा। मानव पंचकोशों से युक्त सृष्टि का श्रेष्ठतम प्राणी है। इसके रूप के निर्माण में प्रकृति ने अपने सम्पूर्ण वैभव को अभिव्यक्त किया है इसीलिए इसे परमेश्वर का प्रतिरूप माना जाता है। जिस प्रकार से ईश्वर में प्रकृति के संसर्ग से कर्तृत्व का आरोप किया जाता है, उसी प्रकार से शरीर, मन, बुद्धि से युक्त चिदांश जीवात्मा में भी प्राकृत संसर्ग से ही कर्म की अनिवार्यता है। भगवान् का कथन है–

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।

यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।।

(गीता १८/१०)

देहधारी जीव के लिए पूर्णरूपेण कर्मों का सर्वथा त्याग कर देना शक्य नहीं। इसलिए जो मनुष्य कर्मों के फल का त्याग करता है, यथार्थतः वही त्यागी कहा जाता है। तत्त्वतः सच्चिदानंद ब्रह्म की अंशाभिव्यक्ति जीवात्मा का नाम मानव वा साधक नहीं और न ही शरीर, इन्द्रियां, मन, अहं, बुद्धि के संघात का नाम ही मनुष्य वा साधक है। सांख्य की भाषा में स्थूल, सूक्ष्म, कारण, इन त्रिविध देहों से युक्त जो चेतन है, उसी की मानस संज्ञा है। वेदान्त की भाषा में जो पंचकोषों से युक्त चेतन है, वही मानव कहा जाता है। अभिप्राय यह कि देहधारी चिदांश ही मानव वा साधक है। देह के रहते हुए पूर्णतया कर्म का त्याग सम्भव नहीं, क्योंकि यह त्रिविध देह प्रकृति का कार्य है और प्रकृति कर्मधर्मा है। भगवान् के ही शब्दों में **'कार्य करण कर्तृत्वे हेतु प्रकृतिरुच्यते'** अर्थात् कार्य माने शरीर, करण माने इन्द्रियां, इन दोनों को चेतन का संयोग प्राप्त होता है, इनमें स्वभावतः गति का प्रारम्भ हो जाता है। गति ही कर्म है इसीलिए शरीर, इन्द्रियों और इनमें होने वाली गति-रूप कर्म, इन तीनों में प्रकृति को ही कारण कहा गया है और इनका प्रकाशित जोड़ चिदांश अर्थात् जीवात्मा है, जिसे शरीर रूप क्षेत्र का ज्ञाता होने से क्षेत्रज्ञ कहा जाता है और शरीर रूपी पुर में विश्राम करने के नाते जिसकी संज्ञा पुरुष होती है, वही इन समस्त कर्मों के परिणामों को अनुभव करता है अर्थात् भोक्ता कहा गया है। सारांश यह कि शरीर के रहते हुए कर्म की अनिवार्यता सर्वज्ञात है। अतः साधक सर्वथा कर्मो का त्याग नहीं कर सकता। भगवान् का कथन है कि निःश्रेयस की सिद्धि के लिए कर्मत्याग आवश्यक भी नहीं है। हाँ, कर्म में जो कर्त्तापन का राग है, उस राग का त्याग होना परम आवश्यक है। कर्त्तापन का राग फलासक्ति से ही उत्पन्न होता है और वही साधक के लिए बन्धन में हेतु बनता है। कर्मफलत्याग से कर्म में राग की उत्पति ही नहीं होती, रागरहित साधक में न तो कर्त्तापन का अभिमान होता है, न तद्जन्य फल की कामना और न तो कर्म का बन्धन ही। कर्मफल त्याग कैसे किया जा सकता है, इस जिज्ञासा के उत्तर में गीता में दो उपाय बताए हैं। एक ज्ञानमार्ग से सम्बन्धित है और दूसरा भावमार्ग से। दोनों का परिणाम एक ही होता है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु गीता मानती है कि बुद्धिप्रधान साधक के लिए ज्ञान का अवलम्बन ही कर्मयोग की सिद्धि और हृदय

प्रधान साधक के लिए भक्ति मार्ग का अवलम्बन ले कर्मयोग की सिद्धि सुगमता से प्राप्त की जा सकती है। ज्ञानमार्गी सम्पूर्ण कर्मों की कर्तृ प्रकृति को देखता हुआ स्वयं को उससे असंग रखता है। भगवान् के शब्दों में :–

गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते।

(गीता ३/२८)

गुण ही गुणों में वर्त रहे हैं, ऐसा निश्चय करता हुआ वह कर्म में आसक्त नहीं होता। वह तत्त्ववेत्ता है। उसे गुण और कर्मों के यथार्थ भेद का बोध है, इसलिए वह इस सत्य को सदैव स्मरण रखता है–**असंगोऽयंपुरुषः** यह पुरुष अर्थात् चेतन सर्वथा असंग है।

हृदयप्रधान व्यक्ति में बुद्धि की अपेक्षा भावना प्रबल होती है। अतः ऐसा व्यक्ति सद्गुरु तथा शास्त्र के द्वारा सुने हुए परमेश्वर में दृढ़ आस्थावान होता है। वह अनन्य भाव से प्रभु का होकर प्रभु के लिए ही जीवन धारण करता है और प्रभु के आदेशानुसार अपने सम्पूर्ण क्रिया–कलापों को प्रभु की प्रसन्नता के लिए करता हुआ उन्हीं में अनुरक्त रहता है। उसके लिए प्रभु का निर्देश है –

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।

(गीता ६/२७)

"जो करता है, जो खाता है, जो कुछ धर्म करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब कुछ मुझे समर्पित होकर कर।" भगवान् को समर्पित होकर भगवान् के नाते जो कुछ भी कर्म किया जाय, वह सभी कुछ उनकी समर्चना हो जाती है। इसलिए प्रभु का कथन है –

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

(गीता १८/४६)

"अपने सम्पूर्ण कर्मों द्वारा उस परमेश्वर की समर्चना करता हुआ मानव मोक्ष रूप सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।" भगवान् के कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि गीतोक्त कर्मयोग केवल चित्तशुद्धि का ही साधन नहीं है, वह परम सिद्धि रूप मोक्ष का प्रदाता है। गीता कर्म में क्रिया की अपेक्षा उसके पीछे निहित भावना को ही प्रधान मानती है। भावना यदि अखण्ड रूप से भगवान् पुरुषोत्तम के साथ जुड़ी हुई हो तो उसके प्रकाश में होने वाले सम्पूर्ण कर्म भगवान् से सम्बन्धित हो उसकी

अर्चना के अंग बन जाते हैं, क्योंकि भक्त अपनी अर्चना के द्वारा अपने आराध्य के अनुग्रह की आकांक्षा करता है। आराध्य के अनुग्रह के सिवाय भक्त के लिए अन्य कुछ भी अभीष्ट नहीं। इसलिए विविध प्रकार के कर्मानुष्ठान को करते हुए भी वह अपने आराध्य से ही युक्त होता हे। युक्तता ही योग है। जब वह अर्चन रूप कर्मों से सम्बन्धित होती है तो उसे कर्मयोग कहते हैं। भावना से युक्त होने पर वही भक्तियोग कहा जाता है क्योंकि कर्म में भाव और क्रिया दोनों ही की पूर्ति होती है इसलिए भक्त द्वारा किया हुआ कर्म भक्ति का पोषक भी कहा जाता है।

कर्मयोग में अधिकारी–भेद के लिए स्थान नहीं। दैवी सम्पत्ति से युक्त मानव समुदाय इसका अधिकारी है, चाहे वह किसी भी देश, जाति, वर्ग, समुदाय, आश्रम का निवासी क्यों न हो। यदि वह अपने नियत कर्मों द्वारा प्रभु की समर्चना में ही सदैव निरत रहता है तो वह कर्मयोगी है। यहां एक बात स्मरण रखनी है कि जिस कर्म को करने की मानव में योग्यता एवं सामर्थ्य है या जो कर्म लोकसंग्रह में उपयोगी व सहायक सिद्ध होता है, मानव के लिए उन्हीं कर्मों को नियत कर्म कहा गया है। प्रभु का आदेश है –

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।

(गीता ३/८)

अपने सामर्थ्य अनुसार नियत कर्मों का अनुष्ठान करते रहना है क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना ही श्रेष्ठ है। गीता का कर्मयोग साधक के लिए उत्तम साधना है और सिद्ध के लिए लोकसंग्रह का कार्य। अतः गीता मानती है कि मनुष्य चाहे साधक हो वा सिद्ध, जब तक वह देह धारण किए हुए है, तब तक उसे कार्य–कर्मों को सदैव करते ही रहना चाहिए। साधनावस्था में कर्मत्याग सम्भव नहीं। सिद्धावस्था में कर्मत्याग उचित नहीं। सिद्ध पुरुष को मानवसमाज स्वयं के लिए आदर्श मानता है। यदि उस स्थिति में वह कार्य–कर्मों का त्याग कर देता है तो अन्य लोग भी उसका अनुकरण करते हुए उसके पथ के अनुयायी बन जाएंगे। इस प्रकार यह सारा मानव समाज कर्महीन वा नष्ट–भ्रष्ट हो जाएगा। वह सिद्धपुरुष मानव समाज का आदर्श होने के कारण इस विनाश का हेतु बनेगा। अतः भगवान् कहते हैं कि यद्यपि जो आत्मरत हैं, आत्मतुष्ट हैं, उनके लिए अब कुछ भी कर्त्तव्य शेष नहीं रहा, उनके करने वा न करने से उन्हें कोई हानि–लाभ नहीं, फिर भी ऐसे आत्म–तुष्ट ज्ञानी व सिद्धपुरुष को भी लोकसंग्रह की दृष्टि से

सम्पूर्ण प्राणियों के हित को ध्यान में रखते हुए उनके कल्याण में सहायक कार्यक्रमों को करते रहना चाहिए। जिस प्रकार से ईश्वर असंग होकर सृष्टि के सृजन, पालन और सम्वरण–क्रिया द्वारा समस्त जीवों के कल्याण का साधन सम्पादित करता रहता है, उसी प्रकार से ईश्वर भाव को प्राप्त हुए सिद्ध–पुरुषों को भी असंग भाव से लोक कल्याण का सम्पादन करते रहना चाहिए। ब्रह्मबौध को प्राप्त कर लेने पर भी प्रारब्ध शेष तक शरीर का बना रहना अनिवार्य है। शरीर के रहते हुए शरीर यात्रा के लिए आदान–प्रदान रूप क्रिया होती ही रहेगी। भगवान् का कथन है, ऐसी स्थिति में यदि वह तत्त्ववेत्ता, जीवनमुक्त, ब्रह्मभूत महात्मा सम्पूर्ण प्राणियों के हित में निरत रहता है, तो वे कार्य उसके लिए न तो बन्धन के हेतु होते हैं और न दुःख के क्योंकि वह तत्त्वद्रष्टा सम्पूर्ण दोषों से विमुक्त है। उसका द्वैतभाव सर्वथा नष्ट हो चुका है, उसकी केवल शरीर और इन्द्रियां ही नहीं अपितु अंतःकरण भी सर्वथा कल्मषरहित एवं स्ववश है। अतः वह सिद्धयोगी ईश्वरीय गुण–धर्म को प्राप्त कर ईश्वरभाव में स्थित रहते हुए प्राणीमात्र का परम सुहृद हो गया है। गीता का यही आदर्श पुरुष है। भगवत् समर्पण रूप कर्मयोग की साधना से भगवद्भाव की प्राप्ति होती है। भगवद्भाव की प्राप्ति ही गीता की भाषा में ब्रह्मभाव वा ब्रह्मभूत की सिद्धि है। ब्रह्मभाव की सिद्धि ही ब्रह्म के समग्र रूप बोध में हेतु बनती है। ब्रह्मतत्त्व के पूर्ण बोध होने पर ही साधक स्वयं के सीमित अहं को ब्रह्म की ही अंशाभिव्यक्ति या उससे अभिन्नता का अनुभव करता है। यह अवस्था ब्रह्मपरायण पुरुष की है, जिसे जीवनमुक्त कहते हैं। इस अवस्था को प्राप्त हुआ महात्मा परमात्मा का यन्त्र बन कर लोकसंग्रह के लिए जो कुछ भी करता है, वही लोक कल्याण में सहायक अमृतमय धर्म कहा जाता है। वह सिद्धावस्था में होने वाला कर्म भी कर्मयोग के नाम से ही अभिहित किया गया है। इस प्रकार गीता में कर्मयोग जहां साधक की सर्वोत्तम साधना है वहीं सिद्धपुरुष का सहज व्यवहार। दोनों ही अवस्थाओं में कर्मयोग मानव के लिए परमोपयोगी होने से मुमुक्षु के लिए श्रेष्ठतम अवलम्बन है, यही गीतानाथ का मानव–मात्र के लिए अमर संदेश है।

*❀**

गीतोक्त साधना–सिद्धि और फल

श्रीमद्भगवद्गीता स्वयं श्रीमन्नारायण के मुखार्विन्द से विनिःसृत ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र का समन्वित ज्ञानकोष है। भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा अपने प्रिय प्रेमभाजन अर्जुन को माध्यम बनाकर मानवमात्र को दिया गया यह अनुपम ज्ञानकोष केवल भारतीय ही नहीं, विश्व के सम्पूर्ण मानव–समुदाय के लिए अनुपम एवं श्रेष्ठतम जीवन–विधान है। यह सत्य है कि मनुष्य अपने वर्तमान से असंतुष्ट रहता है और भविष्य में वह स्वयं में सर्व प्रकार से अभावमुक्त हो पूर्णत्व को प्राप्त करने की अभीप्सा रखता है। इस अभीप्सा की पूर्ति के लिए उसे जिस जीवन–विधि को अपनाने की सीख दी गई है, उस विधि का नाम ही धर्म है। विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में निवास करने वाली सभी सुसभ्य, सभ्य तथा अर्धसभ्य मानव–जातियों के जीवन–विधान में किसी न किसी रूप में धर्म की ही प्रतिष्ठा है। यह बात अलग है कि विभिन्न नामों, रूपों और विधि–विधानों में आबद्ध वह धर्म पूर्णतया विवेकसम्मत है वा केवल विश्वास पर ही अवलम्बित है, इसका निश्चय वर्तमान के सुधीजनों का ही कार्य है। इसमें सन्देह नहीं है कि मानव के लिए वही जीवन–विधान उपयोगी तथा उसकी अभीष्ट सिद्धि में पूर्णतयां सहायक सिद्ध हो सकता है जो बुद्धिगम्य वा विवेकसम्मत हो। वर्तमान की भाषा में उसे कुछ अंशों में विज्ञानसम्मत भी कहा जा सकता है। जो धर्म वा जीवनविधान विवेकविरुद्ध वा बुद्धिसम्मत नहीं, वह मानव के लिए कभी भी हितकर वा अभीष्टप्रद नहीं हो सकता। गम्भीरता से अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि श्रीमद्भगवद्गीता द्वारा प्रतिपादित जीवन–विधान ज्ञान–विज्ञानयुक्त होने से मानवमात्र के लिए परमोपयोगी तथा अभीष्टप्रद है। इस धर्म का अवलम्बन लेने वाला मानव मृत्यु के पश्चात अमृतत्त्व को प्राप्त करने की आशा नहीं रखता अपितु उसे वर्तमान जीवन में ही अमृतत्त्व की प्राप्ति हो जाती है। गीतोक्त धर्म–विधान के सम्बन्ध में श्रीभगवान् का कथन है–

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः।।

"यह अमृत स्वरूप धर्म जो मेरे द्वारा कहा गया है, उसका आश्रय ले जो व्यक्ति

पूर्ण श्रद्धायुक्त हो मेरे परायण हुआ अपने जीवन में उसे प्रतिष्ठित करता है, वह मेरा भक्त है और वह मुझे अतीव प्रिय है।" अभिप्राय यह कि श्रीभगवान् द्वारा कथित धर्म स्वयं अमृतस्वरूप है। मर्त्य मानवों लिए अमृत ही परम अभीष्ट है। इस अमृतत्त्व को प्राप्त करने के लिए ही उनके जीवन का प्रयत्न हुआ करता है; यह बात अलग है कि उसके प्रयत्न की उचित दिशा न होने से बदले में पुनः मृत्यु की ही प्राप्ति होती है। सम्पूर्ण उपनिषदें उसी अमृत को प्राप्त करने की सीख देती हैं। अमृतत्त्व को प्राप्त करने की अभीप्सु मैत्रेयी का कथन है कि –**येनाहं नामृतास्यां किमहं तेन कुर्याम्**, जिसके द्वारा मुझे अमृतत्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती उसको लेकर मैं क्या करूँगी ? इस अमृतत्त्व की प्राप्ति के लिए ही केन की श्रुति की घोषणा है –

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्।।

(केन० २/४)

प्रतिबोध से उत्पन्न ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है क्योंकि इसके द्वारा ही साधक अमृतत्त्व को प्राप्त करता है। अन्तर में विराजित परमात्मा के चिदांश रूप आत्मबोध के द्वारा साधक में उत्साह की प्राप्ति होती है और उस उत्साह के साथ किये हुए साधन और प्रयत्न से जो तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है, उसके द्वारा वह अमृतस्वरूप परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होता है। जिस अमृतत्त्व को प्राप्त करने के लिए उपनिषदें एक मात्र ब्रह्मविद्या को ही हेतु बताती हैं, गीतोक्त धर्म उस ब्रह्मविद्या का ही तत्त्वबोधात्मक प्रकाश है। इस प्रकाश में किये जाने वाले सम्पूर्ण कर्म उस परब्रह्म परमात्मा से ही सम्बन्धित होते हैं, इसलिए उन्हें योग शब्द से अभिहित किया जाता है। यह ब्रह्मविद्या और योग से सम्बन्धित गीतोक्त धर्म की महत्ता का वर्णन करते हुए श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं –

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।।

(गीता २/४०)

इस धर्म के अभिक्रम अर्थात् प्रारम्भ का कभी विनाश नहीं होता और न तो इसका कभी विपरीत परिणाम ही होता है। इस धर्म का थोड़ा–सा भी अनुष्ठान किया जाय तो वह साधक को महान् भय से बचा लेता है। अन्य धर्मानुष्ठान के अवलम्बन में

यह भय बना रहता है कि यदि उसे किसी कारणवश पूरा न किया जाय, बीच में ही छूट जाय तो उसके प्रारम्भ का नाश हो जाता है अर्थात् जितना अनुष्ठान किया गया, वह निरर्थक हो जाता है। उसके फल को प्राप्त करने के लिए साधक को पुनः आरम्भ से ही करना पड़ता है किन्तु गीतोक्त धर्म की ऐसी स्थिति नहीं। इस धर्म का जितनी मात्रा में अनुष्ठान किया जाय वह सदा सार्थक होता है। इस धर्म का अवलम्बन लेने वाला साधक पुनः इस धर्म का अनुष्ठान वहीं से प्रारम्भ करता है जहां कि पूर्व में उसे छोड़ा होता है। इसको ऐसे भी समझा जा सकता है जैसे कोई व्यक्ति यात्रा पर चलता है और कुछ दूर जाने पर अपनी यात्रा स्थगित कर देता है तो उसे पुनः उस यात्रा को प्रारम्भ करने के लिए उस मूलस्थान पर आना नहीं पड़ता। जितना मार्ग तय कर चुका होता है, वह व्यर्थ नहीं जाता। जहाँ पर यात्रा स्थगित होती है, पुनः वहीं से प्रारम्भ कर देता है। प्रभु कहते हैं, शाश्वत धर्म की साधना का यही वैशिष्ट्य है कि इसके अभिक्रम का नाश नहीं होता। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि अन्य धर्म के अनुष्ठानों को यदि साधक विधि-विधान युक्त उसे पूर्ण न करे या विधि में कोई त्रुटि हो जाय तो उसका उसे विपरीत फल प्राप्त होता है। पुराणों में वृत्रासुर के यज्ञ की कथा प्रसिद्ध है। मन्त्र की एक मात्रा की अशुद्धि के परिणामस्वरूप वह यज्ञ उसकी मृत्यु में ही हेतु बन गया जबकि वह अनुष्ठान अमृतत्त्व को प्राप्त करने के लिये ही कर रहा था किन्तु गीतोक्त धर्म के अनुष्ठान में इस प्रकार के विपरीत फल की आशंका नहीं है। इसके अनुष्ठान में विधि की अपेक्षा साधक के भाव की ही प्रधानता है। इसलिए इस धर्म के अवलम्बन में किसी भी प्रकार के भय और विनाश की आशंका के लिए स्थान नहीं। साधक अपनी योग्यता और सामर्थ्य के अनुसार जहां पर जिस स्थिति में है, वहीं से इस धर्म का अवलम्बन ले अमृतत्त्व को प्राप्त कर लेता है, इसमें सन्देह नहीं।

इस गीतोक्त धर्म की इतनी महत्ता क्यों है और यह मानवमात्र के लिए अवलम्बनीय क्यों है ? इसमें कारण यह है कि गीतोक्त धर्म का आधार विशुद्ध बुद्धि अर्थात् ब्रह्मविद्या है। सांख्य शास्त्र का कथन है कि विशुद्ध बुद्धि ही ब्रह्म बोध से अभिभूत होती है। इस बुद्धि के प्रकाश में ही धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य का आविर्भाव होता है। इसके विपरीत जहां अशुद्ध बुद्धि होती है, वहां अधर्म, अज्ञान, आसक्ति और तृष्णा का जन्म होता है। गीतोक्त धर्म भगवद्भावभावित बुद्धि का ही वैभव है, इसलिए यह मानवमात्र की अभीष्ट सिद्धि का एकमात्र उपाय है। धर्म के

सम्बन्ध में श्रीभगवान् कहते हैं–

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्।।

(गीता ६/२)

यह धर्मविद्या ब्रह्मविद्या होने से समस्त विद्याओं में श्रेष्ठ राजविद्या है। धर्म के रहस्य को ऋषियों ने गुह्य घोषित किया है–**धर्मसय तत्त्वं निहितं गुहायाम्**, धर्मतत्त्व मानव की बुद्धि रूपी गुहा में निहित होने से गुह्य कहा गया है किन्तु गीतोक्त धर्म उन समस्त गुह्यों का भी राजा है, इसलिए यह राजगुह्य है अर्थात् गुह्यतम है, इससे अधिक श्रेष्ठ रहस्यमय धर्म की कल्पना नहीं की जा सकती। अन्य धर्मों के अनुष्ठान में पराश्रय का तथा हिंसा रूपी दोष के लिए स्थान है किन्तु गीतोक्त धर्म **सर्वभूततिहेरताः** होने से परम पवित्र और सर्वोत्तम है। इतना ही नहीं यह धर्म मृत्यु के बाद परोक्ष में फल देने वाला नहीं प्रत्यक्ष फलप्रदाता है तथा अनुष्ठान करने में भी अत्यन्त सुगम और सुखदायी है। अन्य धर्म अनुष्ठान काल में दुःखद अर्थात् कष्टकर होते हैं किन्तु परिणाम में शुभ देते हैं किन्तु इस धर्म की विशेषता यह है कि अनुष्ठान काल में भी सुन्दर और सुखद होता है और अनुष्ठाता को तुरन्त फल दे देता है। इन सभी विशेषताओं से अधिक महत्वपूर्ण इसमें एक और विशेषता है कि यह ज्ञान–विज्ञान युक्त है और इस धर्म के ज्ञान मात्र से मनुष्य अशुभ से विमुक्त हो जाता है। श्रीभगवान् के शब्दों में ही –

ज्ञान विज्ञान सहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।

प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि गीतोपदेश से पूर्व धर्म की विविध प्रकार की मान्यताएँ समाज में प्रचलित थीं। वैदिक धर्म प्रवृत्ति व निवृत्ति दो रूपों में प्रचलित था। महर्षि जैमिनि ने वेद के विधि वाक्यों को ही धर्म का मूल स्रोत घोषित किया था किन्तु निवृत्ति मार्गी उसे अदृढ़ तथा अस्थायी बताते हुए उसकी उपेक्षा का पाठ पढ़ा रहे थे। उनके विचार से जीवन के परम लक्ष्य रूप की प्राप्ति में केवल सर्वविध त्याग ही एकमात्र साधन था। इसे ही वे परम धर्म कहते थे। राजर्षि मनु द्वारा प्रतिपादित धर्म धृति, क्षमा, दम, चोरी न करना, पवित्रता, इन्द्रियनिग्रह, स्थिर–बुद्धि, विद्या, सत्त्व और क्रोध का न करना–इन दस लक्षणों में आबद्ध था। महर्षि कणाद द्वारा धर्म की व्याख्या इससे व्यापक थी। उनके मतानुसार **यतोऽभ्युदयः निःश्रेयससिद्धि स धर्म**, जिसके द्वारा मनुष्य अपना

सर्वतोमुखी विकास करता हुआ निःश्रेयस रूप मोक्ष को प्राप्त कर ले, वही धर्म है। महाभारत के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में धर्म की और भी धारणाएं प्रचलित थी किन्तु मूल रूप से धर्म की व्याख्या में कहा जाता था–

धारणात् धर्मं इत्याहु धर्मो धारयेत प्रजाः।

धारण करने से ही वह धर्म कहा जाता है और धर्म ही प्रजा को धारण करता है। इसलिए यह कहावत प्रचलित थी–

धर्मैव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः।

जो धर्म का नाश करता है, वह स्वयं नष्ट हो जाता है क्योंकि सर्वविध रक्षित धर्म ही व्यक्ति व समाज की रक्षा करता है। नारायणोपनिषद् में ऋषि घोषणा करता है कि **धर्मोबिश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा**, धर्म ही विश्व की तथा इस चराचर जगत् की प्रतिष्ठा है। इस प्रकार धर्म की विविधविध व्याख्याओं के होते हुए भी भगवान् ने जो गीतोक्तधर्म की प्रतिष्ठा की है उसमें अवश्य ही कुछ वैशिष्ट्य है, अनोखापन तथा अपूर्वता है। यदि तत्कालीन समाज में जो कुछ प्रचलित था, वही मानव के लिए परम हितकर होता तो भगवान् को यह कहने की आवश्यकता न होती कि "मेरे द्वारा सृष्टि के आदि में दिये हुए योगविज्ञान को काल ने अपना ग्रास बना लिया है अतः उसी जीवन विधान को तुम्हें बता रहा हूं।" भगवान् के शब्दों में–

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।।

(गीता ४/१)

"जो योग विज्ञान मैंने सृष्टि के प्रारम्भ में विवस्वान को दिया था, वही पूर्व में कथित योग के रहस्य को आज मैं तुम्हें समझा रहा हूं। इस उत्तम योग रहस्य को ग्रहण करने की तुम में पात्रता है क्योंकि तू मेरा अनन्य भक्त और सखा है।" इस कथन से यह ज्ञात होता है कि गीता में वर्णित शाश्वत धर्म नया नहीं, वह सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा द्वारा मानव को दिया गया शाश्वत जीवनविज्ञान है। महाभारत के अन्त तक इस जीवनविज्ञान में बहुत सी भ्रान्तियां जुड़ गई थीं और यथार्थ धर्म मार्ग लुप्तप्राय हो गया था। आगे आने वाले कलियुग की स्थिति और भी भयावह थी। इसलिए मानव–हित को ध्यान में रखते हुए करुणावतार भगवान् वासुदेव ने अपने प्रिय भक्त अर्जुन को माध्यम बनाकर मानव–समाज के

लिए एक अवलम्बन रूप प्रत्यक्ष फलदाता, करने में सुखद उस शाश्वत धर्म का उपदेश दिया। इस युग के कल्याणाकांक्षी मनुष्यों के लिए वह गीतोक्त धर्म ही एकमात्र श्रेष्ठतम अवलम्बन है।

जिज्ञासा यह होती है कि इस अमृत–धर्म की प्राप्ति मानव–जीवन में किस प्रकार हो ? इसके लिए श्रीभगवान् ने विशुद्ध तथा स्थिरबुद्धि को ही एकमात्र हेतु बताया है और इस स्थिरबुद्धि को प्राप्त करने के लिए प्रभु ने दो उपाय बताए हैं, जिनमें एक उपाय योगाभ्यास द्वारा समाधि को प्राप्त कर स्थिरप्रज्ञा को प्राप्त करने की विधि समझाई है और दूसरा अनन्य भाव से प्रभु के नाम, स्मरण, ध्यान, चिन्तन आदि के द्वारा प्रभु से युक्त होकर प्रभु के दिव्य गुणों का गान, परस्पर सदैव प्रभु के नाम–रूप–लीला–धाम की महिमा का कथन, श्रवण आदि साधनों के द्वारा प्रभु–कृपा–प्रसाद के रूप में विशुद्ध तथा स्थिरबुद्धि की प्राप्ति। यह बात परम सत्य है कि स्थितप्रज्ञता व बुद्धियोग साधन–साध्य नहीं अपितु कृपा–साध्य है। कलिपावनावतार सन्तप्रवर गोस्वामी तुलसीदास जी का कथन है कि –

तुलसीदास हरि गुरु करुणा बिनु बिमल बिबेक न होई।
बिनु बिबेक संसार घोरनिधि भव पार न पावै कोई।।

हरि तथा गुरु–करुणा के बिना साधक को निर्मल विवेक प्राप्त नहीं हो सकता और बिना निर्मल विवेक के कोई भी इस संसार रूपी घोर समुद्र से पार नहीं जा सकता। गीतोक्त धर्म की साधना में बुद्धियोग की ही प्रधानता है। भगवान् ने इस विषय में बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है–

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चितः सततं भव।।
मच्चितः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।

(गीता १८/५७,५८)

"सतत सावधान रहते हुए अपने सम्पूर्ण कर्मों को मुझे समर्पित कर मेरे परायण होकर बुद्धियोग का आश्रय ले सदैव चित्त को मेरे में लगाने वाला हो जा, चित्त से मुझमें अनुरक्त हो जाने पर मेरे कृपाप्रसाद से तुम सम्पूर्ण कठिनाईयों से पार हो जाओगे।" मानव की बुद्धि परमात्मा को ही विषय करने वाली अथवा परमात्मभाव में ही अटल रहने वाली होने पर योगयुक्त कही जाती है। योगयुक्त बुद्धि होना ही बुद्धियोग है। यदि साधक करुणानिधान भगवान् का आश्रय ले प्रभु के बताये हुए

साधनों का अवलम्बन ले तो वे स्वयं करुणा करके साधक को बुद्धियोग प्रदान कर देते हैं। यह प्रभु की प्रतिज्ञा है कि–

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।।

(गीता १०/१०)

मानव जीवन का परम प्राप्तव्य है ब्रह्मनिर्वाण। स्वयं के सीमित अस्तित्व को पूर्ण रूप से ब्रह्म में विलीन कर ब्रह्म हो जाना। इस परमपद को प्राप्त करने के लिए शरीर रहते हुए अर्थात् जीवनकाल में ही ब्रह्म भाव वा ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करना परमावश्यक है। गीता के मतानुसार जो व्यक्ति जीवनकाल में ब्रह्मभाव को प्राप्त नहीं किया वह मृत्यु के पश्चात ब्रह्मलीन नहीं हो सकता। जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूं कि गीतोक्त धर्म प्रत्यक्ष फलदाता है, परोक्ष नहीं। यह ब्राह्मी स्थिति ब्रह्मविद्या रूप बुद्धियोग का सहज प्राप्य तत्त्व है। अतः जिसे बुद्धियोग की प्राप्ति नहीं हुई वह ब्राह्मी स्थिति वा ब्रह्मभाव नहीं प्राप्त कर सकता और बिना ब्रह्मभाव के ब्रह्मनिर्वाण की कल्पना ही नहीं की जा सकती, जो गीतोक्त धर्म का परम लक्ष्य है। श्रीभगवान् के निर्देशानुसार जो भगवान् से सतत युक्त होकर तन, मन, वचन से प्रीतिपूर्वक प्रभु का ही भजन–सेवन करते हैं, भगवान् उन्हीं पर ही द्रवित हो करके उन्हें बुद्धियोग प्रदान करते हैं, जिसके द्वारा वे भगवान् को ही प्राप्त हो जाते हैं।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनन्य भक्ति ही भगवान् की अनुकम्पा में हेतु होती है। मानव को चाहिये कि वह अपने सम्पूर्ण साधन सामग्रियों को उस सर्वेश्वर की समर्चना में ही समर्पित कर दे और सर्वभाव से सर्वेश्वर से युक्त हो सर्वरूप में उन्हीं की अभिव्यक्ति को अनुभव करता हुआ उनकी सेवा में निरत रहे। संसार के समस्त सम्बन्धों को सर्वेश्वर से ही स्फुरित हुआ जान उन सम्बन्धियों के प्रति कर्त्तव्य रूप धर्म को भी प्राणेश्वर प्रभु के साथ जोड़ दे और सर्वभाव से उन्हीं की आराधना में निरत रहे। इस प्रकार परमात्मभाव से भावित भक्त के हृदय में भगवत्–अनुग्रह का प्रकाश प्रकट हो जाता है, जिससे उसका हृदयगत अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है और उस दिव्यप्रकाश से आलोकित हुई साधक की बुद्धि सर्वविध भ्रान्त धारणाओं से मुक्त हो परमेश्वर से युक्त हो जाती है,यह बुद्धियोग की श्रेष्ठतम स्थिति है। इस स्थिति के द्वारा ही भक्त भगवान् को समग्र

रूप से जानता है, देखता है और तत्त्वतः उन्हीं में लीन हो जाता है। यही गीतोक्त धर्म साधना का अन्तिम साध्य है। गीता में भगवत् प्राप्ति के लिए जो विविध उपाय बताए गये हैं उन सभी उपायों की सिद्धि में बुद्धियोग ही हेतु होता है क्योंकि विशुद्ध बुद्धि के अभाव में न तो अभ्यास हो सकता है, न ज्ञान हो सकता है, न ध्यान हो सकता है और न ही कर्मफल का त्याग सध सकता है। अभिप्राय यह कि ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, सांख्ययोग तथा अभ्यासयोग, ये सभी योगसाधन विशुद्ध तथा स्थिर बुद्धि की ही सन्तानें हैं। इसलिए भगवान् ने मानव को आदेश दिया है कि–

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।।

(गीता २/४६)

" हे धनंजय ! बुद्धियोग की अपेक्षा अन्य सारे कर्म अत्यन्त तुच्छ हैं इसलिए तुम बुद्धियोग का ही आश्रय ग्रहण करो क्योंकि फल की वासना वाले तो सदैव अत्यन्त दीन हैं।" सारांश यह कि विशुद्ध बुद्धि के अभाव में जो भी कर्म वा साधना की जाती है, उन सभी के पीछे अत्यन्त सूक्ष्म रूप से किसी न किसी रूप में फल की वासना निहित होती है और फल की वासना से युक्त की गई साधना कभी भी साधक के व्यष्टिभाव व जीवभाव के निरसन में सहायक नहीं हो सकती और जीवभाव के बने रहने तक व्यक्ति में ज्ञान–अज्ञान, सुख–दुःख, अहं और मम बना ही रहता है, जो कि समस्त सन्तापों का मूल कारण है। अतः त्रिविध तापों से विमुक्त होने के लिए जीवभाव का पूर्णतया ब्रह्मभाव में विलय अत्यन्त आवश्यक है और यह तभी घटित हो सकता है जब साधक बुद्धियोग का अवलम्बन ले, यही गीतोक्त धर्म की श्रेष्ठतम सीख है।

हमारे प्रकाशन

सम्पर्क सूत्र

ब्रह्मर्षि आश्रम
विराट् नगर, पिंजौर (हरियाणा)
पिन-१३४१०२,
फोनः ०१७३३-६६१७०, ६६२७०, ६६२०५

ब्रह्मर्षि योगाश्रम
२८-बी, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा,
दिल्ली-११००३२
फोनः ०११-२८२१६६०, २८२१९४३

ब्रह्मर्षि बावरा शिक्षा निकेतन
माधोपुरी, गऊशाला रोड, लुधियाना
फोन : ०१६१-७००१४१

ब्रह्मर्षि बावरा शिक्षा निकेतन
(अंग्रेजी मीडियम)
बेअन्तपुरा, चण्डीगढ़ रोड, लुधियाना
फोन : ०१६१-६६६४०६, ६०८४०६

Metaphysical Science Research Institute
Sec.19-A, Chandigarh
Phone : 0172/775390, 540128

ब्रह्मर्षि बावरा शान्ति विद्यापीठ
दीनानगर, धार रोड, उधमपुर (जे०के०)
फोन :०१९९२-७१०८०

Brahmrishi Mission School
Jarar, Devvan, Piplaage
Bhunter, Kullu (H.P.)
Ph. 01902-65518,66043

Brahmrishi Mission School
Hanumangarh Road, Opp. New Water Works, ABOHAR-152116
Ph. : 01634-29615, 30615

ब्रह्मर्षि प्राकृतिक चिकित्सालय योग आश्रम
पुरी फार्म्स, जोड़ियां, रादौर रोड,
यमुनानगर-१३५००१ (हरियाणा)
फोन : ०१७३२-७९८४६

ब्रह्मर्षि बावरा विद्या मन्दिर
चककिशुनदास, ज्ञानपुर, भदोही,
वाराणसी (उ०प्र०)

ब्रह्मर्षि योगाश्रम
न्यू बाईपास, ऋषिकेश रोड,
भूपतवाला, हरिद्वार (उ०प्र०)
फोन : ०१३३-४६१०१८

श्री गीता रामायण सेवा संघ
अशोक नगर, मोक्ष मार्ग,
उदयपुर (राजस्थान)
फोन : ०२९४-४१४१४०

Brahmrishi Misson
278, Heston Road, Heston
Middlesex TW5 ORT U.K.
Phone : 0208-571-3879

Brahmriahi Mission CANADA
Shri-Ram-Dham Hindu Temple
525 Bridge Street,
East Kitchener, Ontario
CANADA N2K3C5
Phone : (519) 579-1486

Brahmrishi Ashram
1246, North Mantua Street,
Kent,
Ohio- 44240, U.S.A..
Phone : 330-678-3793

Brahmrishi Ashram
717, Loosduinseweg,
2571 AM-Denhaag, Nederland,
Ph.: 070-3620961

जो वस्तु प्राकृतिक है उसको यदि संस्कृत न किया जाये तो वह वस्तु विकृत हो जायेगी। प्राकृत की पूजा नहीं है, पूजा हमेशा संस्कृत की होती है। संस्कृत ही पूज्य है, संस्कृत ही आराध्य है, संस्कृत ही वर्ण्य है, संस्कृत को ही शिव कहते हैं। सत्य तो प्राकृत भी है परन्तु प्राकृत शिव नहीं है। प्राकृत को जब हम संस्कृत करते हैं तब वह शिव बनता है और वह जब शिव बन जाता है तो आगे चलकर वह सुन्दर भी बन जाता है। सौन्दर्य और शिवत्व की अभिव्यक्ति उस सत्य में तब होती है जब उसे संस्कृत किया जाता है। इसी रूप से मनुष्य प्राकृत प्राणी है, उसे संस्कृत करने के लिए ही सावित्री (गायत्री) की उपासना का विधान किया गया है।

—ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा

दिव्यालोक प्रकाशन
ब्रह्मर्षि आश्रम, विराट् नगर, पिंजौर (हरियाणा)